I.S.S.N. 0975-6531
यूजीसी में सूचीबद्ध

वैचारिकी

भारतीय संस्कृति-साहित्य की शोध द्वैमासिकी

जनवरी-फरवरी 2023 * भाग 39 - अंक 1 (इतिहास पुरातत्व)

- गुप्तोत्तरकाल में मृण्मूर्तियों का अभाव
- बुद्ध के वक्ष पर श्रीवत्स चिह्न
- प्राचीन द्रविड़ लोग
- उत्तर भारत पर महमूद गजनवी का आक्रमण
- वैदिक युग में गणतंत्र
- जानने योग्य रोचक जानकारियां

भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता ₹70/-

• वैचारिकी •
जनवरी-फरवरी 2023 भाग 39 अंक 1

सांची स्तूप का तोरण

अमरावती स्तूप

वृक्ष वंदना शिल्प

वैचारिकी

भारतीय विद्या मन्दिर की द्वैमासिक शोध पत्रिका

अध्यक्ष व प्रधान-सम्पादक

डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

सम्पादक

डॉ. बाबूलाल शर्मा

प्रबंध सम्पादक

शंकरलाल सोमानी

I.S.S.N. 0975-6531 **वैचारिकी** वर्ष 39 : अंक 1

(धर्म-दर्शन-विज्ञान, साहित्य-लोकसाहित्य, इतिहास-पुरातत्व, कला-लोककला)

यू. जी. सी. द्वारा मान्यता प्राप्त

जनवरी-फरवरी 2023 ● पौष शुक्ल 10, फाल्गुन शुक्ल 9, वि. सं. 2079 ● रु. 70

अनुक्रम

- **अध्यक्षीय** 03
- **सम्पादकीय** 05
- **डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव** –
  गुप्तोत्तरकाल में मृण्मूर्तियों का अभाव 08
  क्या दशार्ण उड़ीसा में था 13
  बुद्ध के वक्ष पर श्रीवत्स चिह्न 15
- **डॉ. एम. शेषन** –
  प्राचीन द्रविड़ लोग 19
  उत्तर भारत पर महमूद गजनवी का आक्रमण 35
- **प्रो. योगेशचन्द्र शर्मा** –
  वैदिक युग में गणतंत्र 38
- **ललित शर्मा** –
  झालावाड़ की प्राचीन मूर्तिकला 41
  झालावाड़ क्षेत्र से उपलब्ध अल्पज्ञात मुद्राएं 51
- **पाठक मंच** 60
  जीतेन्द्रनाथ जौहरी- जाननेयोग्य रोचक जानकारियां
  सबसे बड़ा पक्षी-शिल्प ❖सम्राट अशोक-स्तूप, स्तम्भ एवं शिला लेख ❖कुछ अद्‌भुत वास्तु संरचनाएं ❖सोमावथी बौद्ध स्तूप ❖रामाप्पा मंदिर ❖मिस्र के प्राचीन उकेरे हुए शिल्प ❖होयसलेसरा मंदिर ❖कुछ रोचक शैल चित्र एवं शिल्प ❖ऐरावतेश्वर शिव मंदिर, कुम्भकोणम (तमिलनाडु) ❖कम्बोडिया का प्रीह विहार ❖संयुक्त-देह अवधारणा एवं शिल्प ❖बहुआयामी सूर्य ❖कोरिकन्चा स्वर्ण सूर्य मंदिर ❖पेरू में मिली विचित्र खोपड़ियां ❖रोचक मूर्तियां एवं शिल्प ❖श्रीलंका का कोनेश्वरम शिव मंदिर ❖पद्मनाभ स्वामी मंदिर ❖कुलशेखरा मंडपम ❖सिरपुर सुरंग टीला मंदिर ❖पाकिस्तान में हिन्दू मंदिर ❖विश्व का पहला विमान-भारतीय था ❖वेष-भूषा-अलंकार : विगत व वर्तमान ❖वंदनीय पेड़-पौधे ❖वृक्ष वंदना के शिल्प ❖...........
- **आवरण : झालावाड़ के सूर्य मंदिर का शिल्प**

- प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक-प्रकाशक की अनुमति आवश्यक।
- प्रकाशित लेखादि में अभिव्यक्त विचारों से प्रकाशक-सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
- समस्त विवादों के लिए न्यायालय क्षेत्र कोलकाता होगा।

योगः कर्मसु कौशलम

कार्यालय
भारतीय विद्या मंदिर
12/1, नेली सेनगुप्ता सरणी
कोलकाता-700087
दूरभाष : 033-71001614
मो. : 09830559364
ई-मेल :
bvm.vaichariki@gmail.com
वेबसाइट :
www.bharatiyavidyamandir.org

सदस्यता शुल्क

एक प्रति	70/- रुपये
वार्षिक	400/- रुपये
द्वैवार्षिक	800/- रुपये

सदस्यता शुल्क भेजने हेतु :–

Payee's Name :
BHARATIYA VIDYA MANDIR
Current A/c.No. : 32030320176
Bank : State Bank of India
Branch : New Market
IFSC Code No. : SBIN0004662

अध्यक्षीय

हमारे देश के वेद, रामायण, महाभारत व पुराणों के कई कथा-प्रसंगों को पश्चिमी विद्वानों ने और उनके प्रभाव से कई भारतीय विद्वानों ने भी Mythology कहा है। यह शब्द मिथ से बना है जिसका अर्थ है कल्पित कथा। संस्कृत की मिथ धातु से मिथ्या शब्द बनता है और उसका अनुवाद होता है– असत्य, बनावटी, इस तरह Mythology का तात्पर्य है वे पौराणिक कथाएं जो कल्पित हैं, सत्य नहीं हैं परंतु सत्य मान ली गई हैं। इसके लिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अंग्रेजी के मिथ से 'मिथक' शब्द बनाया है जिसमें संस्कृत की मिथ धातु का भी समावेश हो गया है। परंतु अब यह उल्लेखनीय है कि बहुत से पौराणिक प्रसंग आज के वैज्ञानिक आधारों पर भी सत्य पुष्ट होते जा रहे हैं। खगोल-विज्ञान, जल-विज्ञान, भूविज्ञान, जैव-शास्त्र आदि सबके आधार पर बहुत से विद्वान हमारे पुराणों में वर्णित घटनाओं एवं तथ्यों की प्रामाणिकता को पुष्ट करते जा रहे हैं। इसे समझने के लिए जिज्ञासु को वैज्ञानिक विषयों का कुछ ज्ञान आवश्यक है, वैसे तथ्य क्या है यह बहुत गूढ़ विषय है। विद्वानों और शास्त्रों से तरह-तरह के तर्क और विचार एक दूसरे के विपरीत भी आते जाते हैं, इसलिए सत्य क्या है, यह बड़ा कठिन विषय है और विद्वानों के तरह-तरह के तर्कों और स्थापनाओं को समझ पाना सामान्य जन के वश की बात नहीं है।

तर्को प्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्, धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्थाः *(महाभारत : युधिष्ठिर-यक्ष संवाद)* अर्थात अनेक तर्क प्रतिष्ठित हैं, विभिन्न श्रुतियाँ हैं, अनेक मुनियों के वचन प्रमाणस्वरूप हैं (तथापि) धर्म का तत्त्व गुफा में (गुप्त) है, अतः महाजन अर्थात महान लोग जिस पथ पर चले उसका अनुसरण करो, वही श्रेष्ठ मार्ग है। अतः सत्य को समझने में हमारी गति तो है ही नहीं, विद्वानों और वैज्ञानिकों की गति भी, सत्य की खोज में सीमित ही है- *सत्य एक यह शब्द आज तू इतना गहन हुआ है, मेधा के क्रीड़ा पंजर का पाला हुआ सूआ है (कामायनी (कर्म) -जयशंकर प्रसाद)*। अंततः तो हमारे जैसे अल्पज्ञ लोगों के लिए 'महाजनो येन गतः स पंथा' ही है लेकिन फिर यक्ष प्रश्न रह जाता है कि कौन हैं महाजन या महान? जिन पर हमारी श्रद्धा हो, आस्था हो, वे जो कहते हैं वही हमारे लिए सत्य हो और हम उनके दिखाए मार्ग पर चलें?

फिर दैनिक जीवन में साधारण ज्ञान से जो बातें सामने आती हैं, और उनकी ग्राह्यता भी होती है, हम उन्हें ही मानकर चलते हैं अथवा उस लिखे हुए को मानते हैं जो रुचिकर है, पढ़ने में आनंद भी आता है। आजकल प्रत्यक्ष प्रमाण को अधिक महत्व दिया जाता है। शास्त्र-कथन गौण हो गया है। शास्त्रों का प्रमाण पूरा नहीं है। अनुमान प्रमाण का प्रयोग जगह-जगह हो रहा है, लेकिन इन सबसे परे अंतर्ज्ञान (intuition) हमारे विचारों को बहुत प्रभावित करता है, चाहे हम उसे प्रमाण मानें या न मानें। ध्यान (meditaion) के माध्यम से या योगशास्त्र की पद्धति से इसको विकसित किया जा सकता है। अंतर्ज्ञान के प्रमाण हम पुराणों व शास्त्रों में भी देखते हैं।

इस पर और भी चिन्तन और चर्चा की आवश्कता है।

पुराणों में विष्णु के 10 अवतार मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि के उल्लेख हैं। प्रथम चार-मत्स्य, कूर्म, वराह और नरसिंह अवतार मूलतः प्रजापति के सुनने में आते हैं जो फिर विष्णु के बताए जाने लगे। कुछ लोग इन अवतारों को डार्विन के विकासवाद से जोड़कर भी देखते हैं। बात सुनने में बहुत अच्छी लगती है, लेकिन डार्विन का विकासवाद खुद ही स्थिर धरातल पर नहीं है। मूलतः डार्विन या कोई भी वैज्ञानिक Amino Acid या किसी भी द्रव्य से जीव-सृष्टि को प्रयोगशाला में प्रमाणित नहीं कर पाया है। जैविक चेतना किसी रासायनिक प्रक्रिया से संभव भी नहीं दिखती है और जीव के DNA आदि की जटिल संरचना स्वतः हो जाए, यह भी संभव नहीं लगता है। इसलिए इसको बनाने के लिए किसी निपुण कर्त्ता की नितांत आवश्यकता होती है, जो जटिल कोशिकाओं का निर्माण कर सकता है और उन्हें अलग-अलग स्वरूप दे सकता है। उक्त अवतारों की क्रमबद्धता भी निश्चित नहीं है। पुराणों में वराह अवतार का वर्णन पहले आता है और मत्स्य अवतार का वर्णन बाद में देखा जाता है। हिरण्याक्ष पृथ्वी और वेदों को लेकर जल में चला गया, उसको मारकर भगवान वराह ने पृथ्वी और वेद का उद्धार किया और बाद में ब्रह्माजी ने मनु को बनाया और फिर मत्स्य अवतार हुआ। प्रलय आया तो जीवों को बचाने के लिए मत्स्य अवतार हुआ। अतः क्रमबद्धता स्पष्ट नहीं है। मनीषी विद्वानों ने इन प्रश्नों पर अवश्य प्रकाश डाला होगा, अभी तक मेरे पढ़ने में नहीं आया।

आधुनिक विज्ञान में काल की अवधारणा लीनियर (Linear) है अर्थात काल एक ही रेखा में पीछे से आगे की ओर बढ़ता जाता है, जबकि वस्तुतः कल सूर्य जहाँ उदय हुआ था वह आज उस स्थान से थोड़ा-सा आगे बढ़ कर है या बड़े चक्र या वृत्त का हिस्सा बन रहा है। हमारे शास्त्रों में काल को चक्र (cycle) में कहा गया है- दिन के बाद रात, रात के बाद दिन, 12 महीनों के बाद पुनः 12 महीने, साल के बाद पुनः साल, एक युग के बाद पुनः दूसरा युग, एक चतुर्युगी के बाद पुनः चतुर्युगी, फिर 14 मन्वंतर हैं। अभी 13 मन्वंतरों के बाद वैवस्वत मन्वंतर है। 72 चतुर्युगी का यह वर्तमान श्वेत वराह कल्प ब्रह्मा के अर्द्ध जीवन का ही हिस्सा है। आदि कल्प शाश्वत था, कल्प के बाद कल्प आते हैं। ऐसा लगता है कि जैसे एक विराट् वर्तुलाकार spring दूसरी spring से बनी है और वह भी दूसरी छोटी spring से बनी है। अतः यह ब्रह्माण्ड वर्तुलाकार होते हुए भी आगे बढ़ रहा है। यह किसी स्प्रिंग जैसी संरचना में संभव है! क्या यह एक ही स्प्रिंग है? कहीं ऐसा तो नहीं; यह एक विराट स्प्रिंग का निर्माण कर रहा है। आधुनिक विज्ञान Big Bang (महाविस्फोट) के साथ सृष्टि का आरंभ मानता है, हमारे यहां भी अण्ड में विस्फोट से सृष्टि के आरंभ की अवधारणा प्राचीन काल से है।

आधुनिक वैज्ञानिकों का अभिमत है कि ब्रह्मांड (Univers) विस्तृत (expand) होता जा रहा है। जिज्ञासा है कि क्या यह expand करता ही जायेगा या वापिस भी सिमटेगा या यह expansion & contraction (विस्तार और संकुचन) की प्रक्रिया निरंतर है, विज्ञान को मालूम नहीं है। हमारे यहाँ तो इस विस्तृत सृष्टि के वापस अपने मूल अण्ड या ब्रह्म में लीन होने की अवधारणा है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त व उपनिषदों में इसका वर्णन है। वैदिक हिरण्यगर्भ की अवधारणा को बगैर साधना व सक्षम गुरु कृपा के बिना समझना संभव नहीं है। मेरे विचार में तो किसी एक तरफ रहने का आग्रह नहीं रखकर, अपने वेदादि ग्रंथों के उल्लेखों और आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों का समन्वित अध्ययन ही फलदायी हो सकता है।

– डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

*प्रसिद्ध विधिवेत्ता, कवि-चिन्तक एवं उत्तर प्रदेश विधानसभा के अध्यक्ष व पश्चिम बंगाल के राज्यपाल रहे 82 वर्षीय **श्री केशरीनाथ त्रिपाठी** का 8 जनवरी 2023 को प्रयागराज में देहवसान हो गया। श्रद्धेय त्रिपाठीजी अनेक सामाजिक-साहित्यिक-सांस्कृतिक-धार्मिक संस्थाओं के प्रेरक एवं पोषक थे। आपका भारतीय विद्यामंदिर व वैचारिकी परिवार से आत्मीय संबंध रहा। **सादर स्मरण सहित श्रद्धांजलि।***

सम्पादकीय

2023, 1 जनवरी नववर्ष की शुभकामनाएं। 12 जनवरी राष्ट्रीय युवा दिवस पर स्वामी विवेकानंद का प्रेरक स्मरण जिन्होंने विश्वमंच पर भारतीय धर्मदर्शन की श्रेष्ठता का उद्‌घोष किया। 23 जनवरी पराक्रम दिवस पर वीरवर सुभाषचंद्र बोस का सगर्व स्मरण जिन्होंने आजाद हिन्द फौज के साथ ब्रिटिश साम्राज्य को ललकारा और सर्वप्रथम राष्ट्रीय ध्वज फहराया। 26 जनवरी 74वें गणतंत्र दिवस की हार्दिक बधाई शुभकामनाएं।

सन् 2022 समाप्त होते-होते और सन् 2023 आते-आते वाट्सएप पर मैसेज वायरल होने लगे, 'अंग्रेजी नव वर्ष नहीं मनाएं... भारतीय संवत् का नव वर्ष आने वाला है उसे मनाएं' आदि-आदि। प्रश्न कि कौन-सा भारतीय सन्-संवत? हमारे विभिन्न प्रांतों व समाजों में अपने-अपने संवत, अपने-अपने नव वर्ष? मैसेज था कि विक्रम संवत 2080 चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को नव वर्ष मनाएं। परंतु राष्ट्रीय संवत तो शक-संवत है? फिर हमारी सारी सरकारी व्यवस्थाएं और निजी व्यवस्थाएं भी ईस्वी सन् के अनुसार हैं, सारा कार-व्यवहार इस सन् के अनुसार चल रहा है, नवीनताएं इसके अनुसार होती हैं, क्या करें? फिर यह भी कि हमारे यहां नव वर्ष के प्रारंभ पर लोग अपने-अपने घरों में व्यक्तिगत रूप से धार्मिक अनुष्ठानादि करते हैं। जिसका भी संबंध नववर्ष से नहीं है, यह वासंतिक नवरात्र का अनुष्ठान होता है और फिर आषाढ़, आश्विन, माघ के नवरात्र आते रहते हैं। ईस्वी सन् वालों की तरह नव वर्ष पर सामूहिक जश्न और पारस्परिक शुभकामनाओं का आदान-प्रदान करने या हैप्पी न्यू ईयर कहने का रिवाज हमारे यहां रहा ही नहीं। दूसरी तरफ यह भी कहा जा रहा है कि पश्चिम की नकल मत करो। बहरहाल नव वर्ष 2023 की शुभकामनाएं, गत वर्ष की हजार दुस्वारियों के बावजूद, कल्पित ही सही, इस नई शुरुआत पर शुभकामनाएं। गाहेबगाहे भी ऐसा करते रहना, मजबूरी जैसा होते हुए भी जरूरी है, और क्या करें? नहीं तो 2022 की शुरुआत में कुछ कम शुभकामनाएं नहीं की थी? पर मनुष्यों द्वारा मनुष्यों और पर्यावरण का संहार बढ़त लेता ही जा रहा है और 2023 में भी जारी है, नया कुछ नहीं हुआ, फिर भी शुभकामनाएं! रूस-युक्रेन के युद्ध की शुरुआत में भयंकर संहारक अस्त्रों ने दहला दिया था, और फिर वर्ष भर एक से एक भयंकर संहारक अस्त्रों ने इतनी बार दहलाया और दहलाए जा रहे हैं कि नव वर्ष की शुभकामनाएं कहते-कहते दहशत भरा गूंगापन छाने लगा है और भय से सुन्न आंखों को आशंका है... कब... कब... कभी भी उस भयंकर अस्त्र के प्रहार का, जिससे हुई विनाशलीला मनुष्यता गत-शताब्दी के मध्य में हिरोशिमा-नागासाकी में देख-भोग चुकी है। मनुष्य यह सब कर रहा है, तो 'मनुष्यता', 'इंसानियत' 'ह्यूमिनिजियम' जैसे शब्द? कहा जाता है- सृष्टि में मनुष्य से अधिक श्रेष्ठ कोई-कुछ नहीं? ....

सृष्टि में मानव औरों से विशेष/मस्तिष्क उसके पास जो है, अपार ऊर्जा भरा/कर्म का स्वातंत्र्य कितने ही संकल्पों-विकल्पों, कितनी ही कल्पनाओं-उत्प्रेक्षाओं से संपन्न/कितने ही प्रयोग-

उपयोग-दुरुपयोग। प्रकृति उसके लिए केवल भोग-विलास/सुख-सुविधा जुटाता वह अंधाधुंध/प्रकृति का पद-दलन/उच्छृंखल उद्धत प्रकृति को दासी बनाने। ईश्वर ने उसकी तपस्या-भक्ति से प्रसन्न हो, दिया वरदान/ पाकर जिसे वह हो उठा विकट भस्मासुर/भस्म करने दौड़ पड़ा वरदाता को ही/ अब प्राण बचाने यहां-वहां छुप रहा ईश्वर।

मानव सभ्यता का इतिहास/अस्त्र-शस्त्रों के आविष्कारों का लेखा-जोखा, किसने किया सबसे ज्यादा संहार मनुष्यों का, उसकी यश-गाथाओं का जिसने उजाड़े जीवनदायक प्रकृति के घरोन्दों को, उसे महान बताने का। किसी भी बहाने संहार/कभी जर-जमीन-जोरू के लिए/औरतो और धर्म के नाम पर धर्मयुद्ध जिहाद/रचकर अपना-अपना ईश्वर अलग-अलग नामों वाला/सब कुछ समर्पित कर लिया मनुष्य ने अपने को प्रकृति के हर उपादान को/लगा है प्रकृति को विजित कर उसे अपनी दासी बनाने में।

बढ़ रहे मनुष्य अनगिनत असंख्य/सुरसा से मुंह जैसी विशालतर हो रही समस्या/कैसे पालन हो इनका इनकी असीमित इच्छाओं, लालच, सुख-सुविधाओं, भोग-विलास का/करते जाओ विकास..... विकास... विकास...? मनुष्यों के, उसके कुकर्मों के भार से दब रही धरती/ कर रही त्रहि-त्राहि, प्रभु! आओ भार हरो/ क्षुब्ध हो उठा है बैल जो अपने एक सींग की नोक पर टिकाए है इसे ...../ नोक जल उठी है/ झंझावात, बर्फ के तूफान.... जंगल-जंगल आग... खौल रहे समुद्र, धंस रहे पहाड़...बरस रहे प्रलयंकर बादल। मनुष्य, मनुष्य के संहार, प्रकृति को उकसाने उजाड़ने में निरत।

इस सारे विध्वंस-विप्लव के अंधकार में अकाश-दीप सी भारतीय संस्कृति, मुनष्य की स्वाभाविक संस्कृति, यह मनुष्यता की संस्कृति है। मनुष्यता की संस्कृति से तात्पर्य है कि इसमें ईश्वर, धर्म, आस्था, विश्वास, ज्ञान-विज्ञान जैसी चीजें मनुष्य से ऊपर नहीं हैं, ये सब मनुष्य के लिए हैं, समस्त जीव-जगत और जीवनदायक प्रकृति के लिए हैं, प्रकृति और मनुष्य इनके लिए नहीं। यह किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा प्रवर्तित विधि-निषेधों के कट्टरपन से सिसकते मनुष्य की संस्कृति नहीं है। सब कुछ से ऊपर जीवन जरूरी है, जीवन के लिए प्रकृति जरूरी है। जीओ और जीने दो अर्थात स्वयं को जीने का अधिकार है तो दूसरे के जीने के अधिकार को मान्यता। तुम अपने विचार रखने को स्वतंत्र है तो दूसरे को मान्यता देने के अनुशासन सहित। इसकी सबसे बड़ी विशेषता ही है वैचारिक स्वातंत्र्य, आचरण का स्वातंत्र्य। यह तो स्वातंत्र्य की संस्कृति है, इसीलिए इसमें आस्तिकता है तो नास्तिकता भी अर्थात् ईश्वर के होने को मानने और उसके न होने को मानने की स्वतंत्रता। यह सांस लेने की स्वतंत्रता की संस्कृति है। व्यक्ति विशेष द्वारा प्रवर्तित धर्म-संस्कृति की तरह नहीं, जहां सांस लेने के लिए भी विधि-निषेध है। आधुनिक युग में सर्वाधिक प्रभावशाली चिंतक कार्ल मार्क्स ने धर्म को अफीम कहा है अर्थात जैसे अफीम मनुष्य की समस्त वैचारिकता विवेकशीलता को रुद्ध कर देती है वैसे ही धर्म भी। परंतु भारतीय संस्कृति और हिंदू धर्म अफीम नहीं है क्योंकि इसमें वैचारिक स्वातंत्र्य है। दुर्भाग्य से हमारे मार्क्सवादियों को यह अफीम ही अच्छी लगती है, हिन्दुत्व की वैचारिक स्वतंत्रता नहीं?

विमर्श

सम्मान्य पाठकवृंद! वैचारिकी में प्रकाशनार्थ प्रेरक प्रसंग, प्रेरक लघु कहानियां, प्रेरक-रोचक संस्मरण इत्यादि भेजने तथा वैचारिकी के इस अंक से प्रारम्भ किये जा रहे 'विमर्श' नामक स्तम्भ हेतु आपका चिंतन, आपकी जिज्ञासाएं भेजने और उनको लेकर हुए विचार-विमर्श में भी सम्मिलित होने का साग्रह अनुरोध है।

व्हाट्सएप पर श्री बसंत कौशिक (जयपुर) की एक जिज्ञासा देखने को मिली- **नैतिकता होने पर ईश्वर की क्या आवश्यकता है, क्या ईश्वर की दृष्टि में चोरी, हत्या, बलात्कार आदि अपराध हैं?** इस पर मेरा विमर्श हैः एक मूलभूत तत्व है जो सृष्टि-कर्ता है जिसे ईश्वर, God, अल्लाह आदि विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। पहले प्रकृति है उसमें सृष्टि हुई। यह सृष्टि द्वन्द्वात्मक है अर्थात इसमें सृजित अस्तित्वों-पदार्थों में सापेक्षता है, कोई भी अस्तित्व निरपेक्ष नहीं है, उससे जुड़ा दूसरा अस्तित्व भी है और दोनों एक दूसरे के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं जैसे-जीवन-मृत्यु, प्रकाश-अंधकार, ऊंचा-नीचा, नर-नारी इत्यादि। इस प्रकृति में जीव उत्पन्न हुए जिनका मूल स्व-भाव है– आहार निद्रा भय मैथून, बस इसके अलावा जो कुछ है जैसे सुख-दुख, पाप-पुण्य, उचित-अनुचित

इत्यादि मनुष्य-कृत पारिवारिक-सामाजिक व्यवस्थाएं हैं, इनका कथित ईश्वर से कोई संबंध नहीं है। स्त्री-पुरुष और उनके बीच काम संबंध प्राकृत है, जबकि शेष सभी पारिवारिक-सामाजिक संबंध मनुष्यकृत व्यवस्था हैं। कोई कृत्य उचित है या नहीं यह विभिन्न मनुष्य-समूहों की अपनी-अपनी परिवेशगत अवधारणा पर निर्भर है, ईश्वर के लिए वह एक कर्म मात्र है। ईश्वर या मूल प्रकृति ने सृष्टि में विभिन्न पदार्थों-अस्तित्वों और उनमें कर्मों एवं उनसे संबंधित फलों की रचना की है तथा एक सिस्टम की रचना की है जिसके अंतर्गत ये कर्म और कर्म-फल स्वतः होते रहते हैं। कथित ब्रह्म या ईश्वर या मूलतत्त्व, इस सृष्टि की रचना के बाद इसमें हस्तक्षेप नहीं करता, वह केवल साक्षी है। मनुष्य ही कर्म का कर्ता है और प्राकृत सिस्टम में कर्म-फल का भोक्ता है। मनुष्य ने जीवन जीने के लिए जो नैतिक व्यवस्था की वही धर्म है और इसका ईश्वर से कोई संबंध नहीं है।

नैतिकता है तो ईश्वर की आवश्कता नहीं रह जाती है। जैन और बौद्ध धर्म नैतिक धर्म हैं अतः इनमें ईश्वर की अवधारणा नहीं है और न ही सृष्टि संबंधी चितन की भी। वस्तुतः भारतीय चिंतन-परंपरा में ईश्वर से धर्म का कोई संबंध नहीं है। इसके अनुसार मनुष्य का नैतिक आचरण ही धर्म है। किसी उपासना को धर्म मान लेना तो वस्तुतः नैतिकता अथवा नैतिक आचरण से बचने का रास्ता है। वस्तुतः किसी ईश्वर अथवा देवता की उपासना धर्म नहीं है, धर्म तो नैतिकता है। हमारे यहां इस नैतिकता अथवा धर्म के दस लक्षण कहे गए हैं -धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। (मनुस्मृति 6.92)।अर्थात- धृति (धैर्य), क्षमा (अपना अपकार करने वाले का भी उपकार करना), दम (हमेशा संयम से नैतिकता में लगे रहना), अस्तेय (चोरी न करना), शौच (भीतर और बाहर की पवित्रता), इन्द्रिय निग्रह (इन्द्रियों को हमेशा नैतिक आचरण में लगाना), धी (सत्कर्मों में बुद्धि लगाना), विद्या (यथार्थ ज्ञान लेना), सत्यम् (हमेशा सत्य का आचरण करना) और अक्रोध (क्रोध को छोड़कर हमेशा शांत रहना)। यही धर्म के लक्षण हैं।

–डॉ. बाबूलाल शर्मा

प्रतिस्वर

'वैचारिकी' का आजादी का अमृत महोत्सव अंक (जुलाई-अगस्त 2022) यथा समय प्राप्त हुआ। 'वैचारिकी' देश की एकमात्र प्रतिष्ठित शोध-पत्रिका है, अतः उसमें विद्वज्जनों के कतिपय अज्ञात किंवा अल्पज्ञात विषयों पर लिखित आलेखों को पढ़ने की ललक बनी रहती है। प्रस्तुत अंक में भी पर्याप्त विषय-वैविध्य है। 'अध्यक्षीय' में डॉ. मूंधड़ा ने मिथक के अनर्गल अर्थघटन 'मिथ्या' पर खेद प्रकट करते हुए वक्तव्य के उपसंहार में यथार्थ ही कहा है कि 'आजादी का अमृत महोत्सव तभी उपलब्धिपूर्ण होगा जब अभिभावकों व बच्चों को अपनी संस्कृति का वास्तविक ज्ञान होगा'। डॉ. शर्मा ने संपादकीय में हिन्दी के पुरोधा भारतेन्दु बाबू की सुप्रसिद्ध उक्ति 'अंग्रेज राज सुख-साज सजै अतिभारी, पै धन विदेश चलि जात यहै अतिख्वारी' के हवाले से ब्रिटिश हुकूमत की शोषण-नीति सोदाहरण स्पष्ट की है। 'पुनश्च संपादकीय के अंत में देश-वासियों का आवाहन करते हुए इन शब्दों में सावधान भी किया है - आइए, आजादी के इस अमृतोत्व में संकल्प लें अपनी राष्ट्रीय एकता को कायम रखने के लिए, प्रजातंत्र को कुलीनतंत्र बनने से रोकने के लिए प्रतिबद्ध रहने का, भ्रष्टाचार और क्षुद्र स्वार्थों तथा सामाजिक भेदभाव से इस अमृत की रक्षा का।' अंक में संस्कृति, साहित्य, इतिहास, संगीत, स्थापत्य, भक्ति आदि बहुविध विषयों पर आधारित आलेख ज्ञानवर्द्धक हैं। आवरण 2-3 पर भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सैनानियों-शहीदों के छाया-चित्र अंक की गरिमा को द्विगुणित करते हैं।

प्रो. भगवानदास जैन *(पूर्व प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, सरदार वल्लभभाई आर्टस् कॉलेज, अहमदाबाद),*
बी-105, मंगलतीर्थ पार्क, कैनाल के पास, जशोदानगर रोड, मणीनगर (पूर्व),
अहमदाबाद-382445, मो. 9426016862

*प्रसिद्ध पुरातत्वविद् **डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव** (1-बी, स्ट्रीट 24, सेक्टर 9, भिलाई-490009, छ.ग.) वैचारिकी के लिए बराबर लिखते रहे, उनके कई लेख वैचारिकी में प्रकाशित हुए। दिवंगत होने के बाद भी उनके तीन लेख प्राप्त हुए थे, जो अब इस अंक में सादर स्मरण सहित यहां प्रस्तुत हैं।*

गुप्तोत्तरकाल में मृण्मूर्तियों का अभाव

भारत में मूर्तिकला की परंपरा बड़ी पुरानी है। हमारी प्राचीनतम विकसित हड़प्पा-सभ्यता से ही उसके साक्ष्य मिलने लगते हैं। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ों से हजारों छोटी-छोटी मातृदेवी की मृण्मूर्तियाँ मिली हैं। पत्थर और काँसे की भी मूर्तियाँ मिली हैं, पर उनकी संख्या बहुत कम है। उसके बाद मूर्तिकला के दर्शन हमें मौर्यकाल (ईस्वी पूर्व 322-185) से फिर होने लगते हैं। सम्राट अशोक के स्तंभों के शीर्षों पर लगी पशु-आकृतियाँ तथा कुछ यक्ष-यक्षियों की स्वतंत्र मूर्तियाँ प्राप्त हुयी हैं किंतु उनकी तुलना में उस युग की मृण्मूर्तियाँ संख्या में अधिक है। शुंग काल (ई. पूर्व 187-75) तथा सातवाहन काल (ई. पूर्व 200 से ईस्वी 200 लगभग) में बौद्धकला के माध्यम से प्रस्तर-मूर्तियों की संख्या में बढ़ोत्तरी अवश्य हुयी थी, परन्तु यह बढ़ोत्तरी प्रस्तर-फलकों की उत्कीर्णकला के रूप में ही अधिक थी जिससे उस युग के स्तूपों, चैत्यों और विहारों की भित्तियों, स्तंभों, वेदिकाओं तथा तोरणों को सजाया गया था। भरहुत, साँची, बोधगया, मथुरा, अमरावती आदि स्थानों से प्राप्त प्रस्तर-फलक ही तत्कालीन मूर्तिकला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। स्वतंत्र मूर्तियों का अंकन कतिपय यक्ष-यक्षियों और नाग-नागिनियों की मूर्तियों तक ही सीमित था जबकि स्वतंत्र मृण्मूर्तियों की संख्या निःसंदेह इस युग में भी अधिक थी।

कुषाणकाल (ईस्वी 30-225) से स्वतंत्र प्रस्तर-मूर्तियों का तक्षण अधिक लोकप्रिय हो गया था। इस युग में मथुरा कलाकेन्द्र में जैन, बौद्ध और ब्राह्मण सभी धार्मिक संप्रदायों के विभिन्न देवी-देवताओं की सुन्दर मूर्तियों का निर्माण किया गया था। जैनतीर्थकरों, बुद्ध-बोधिसत्त्वों और बलराम, कृष्ण, विष्णु, शिव, कार्तिकेय, गणेश, सूर्य, लक्ष्मी, महिषमर्दिनी, दुर्गा, एकानंशा आदि देवी-देवताओं की कुषाणकालीन अनेक स्वतंत्र मूर्तियाँ पायी गयी हैं। इसी काल में गांधार कला में भी बौद्ध धर्म से संबंधित फलकों और स्वतंत्र मूर्तियों का विविधपक्षी अंकन किया गया था। तथापि प्रस्तरकला के इस लोकप्रिय विकास के बावजूद मृण्मूर्तियों की सर्जना में कोई कमी नहीं आयी थी। कुषाणकालीन उपलब्ध मृण्मूर्तियों की संख्या अधिक है।

गुप्तकाल (ईस्वी 275-550) तो भारतीय इतिहास का स्वर्णकाल था। इस काल की मूर्तिकला में भी विकास का चरमोत्कर्ष दिखायी पड़ता है। गुप्तकाल में मूर्तिकला के नमूने संख्या की दृष्टि से प्रस्तर-फलकों की अपेक्षा स्वतंत्र मूर्तियों के रूप में अधिक मिलते हैं। मथुरा, सारनाथ, पाटलिपुत्र, देवगढ़ आदि इस युग की मूर्तिकला के प्रसिद्ध केंद्र थे। इन केंद्रों की निर्मित मूर्तियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। किंतु प्रस्तर-मूर्तियों के साथ-साथ मृण्मूर्तियों

की विविध छटा भी उसी प्रकार बिखेरी गयी थी। गुप्तकाल के बाद पूर्व मध्यकाल में प्रस्तर-मूर्तियाँ और अधिक संख्या में उकेरी जाने लगी थीं, परंतु अब हमें मृण्मूर्तियों का अभाव सा दिखायी पड़ने लगता है। उत्तरी भारत में 7वीं शताब्दी के बाद मृण्मूर्ति कला का स्वर्णिम अध्याय समाप्त-सा हो जाता है।

यह जान लेना आवश्यक है कि भारत में मूर्तियों का क्या उपयोग रहा है। दूसरे शब्दों में किन उद्देश्यों की संपूर्ति के लिए मूर्तियों का निर्माण किया जाता रहा है। भारत में मूर्तियों के निर्माण के दो प्रमुख उद्देश्य रहे हैं- पहला, धार्मिक अनुष्ठान अथवा पूजा-अर्चना के लिए और दूसरा, भवनों और मंदिरों की सजावट के लिए। इसी आधार पर हड़प्पाकाल के अवशेषों में पायी जाने वाली हजारों नारी-मृण्मूर्तियों की पहचान विद्वानों ने मातृदेवी से की है। उनकी मान्यता है कि नन्हीं-नन्हीं मृण्मूर्तियों का उपयोग जन-सामान्य के घरों में होने वाले धार्मिक अनुष्ठानों में नित्य प्रति अथवा अवसर-विशेष पर किया जाता होगा, जैसे दीवावली की रात को अब भी लक्ष्मी-गणेश की मृण्मूर्तियों की ही पूजा घर-घर में की जाती है और इसी प्रकार महाराष्ट्र में गणेश-चतुर्थी के अवसर पर गणपति और बंगाल में ही नहीं अब तो समूचे देश में दुर्गा-पूजा के अवसर पर महिषर्दिनी दुर्गा की मूर्तियां अब भी मिट्टी की ही बनाकर पूजने का विधान और परंपरा है। भवनों को मृण्मूर्ति-फलकों से सजाने की परंपरा भी पुरानी है। गुप्तकालीन भीतरगांव (कानपुर जनपद, उ. प्र.) का विष्णु मंदिर और अहिच्छत्रा (बरेली जनपद, उ. प्र.) का शिव मंदिर इसका सुंदर उदाहरण हैं। बंगाल के चन्द्रकेतुगढ, पहाड़पुर, विष्णुपुर आदि स्थानों में मृत्फलकों से मंदिर-भित्तियों को सजाने की परंपरा बाद की शताब्दियों तक पायी जाती रही थी। पत्थर से मूर्तियां बनाना अपेक्षाकृत कठिन था और गीली मिट्टी से आकृतियां बनाना सरल। संभवतः प्रारंभ में इसीलिए मृण्मूर्तियां अधिक बनायी जाती थीं। पत्थर सर्वत्र सुलभ भी नहीं था परंतु मिट्टी तो सर्वत्र सहज सुलभ थी। इन दोनों कारणों से पत्थर की मूर्तियां अधिक मूल्यवान होती होंगी जिन्हें प्राप्त करना सर्वसाधारण के लिए संभव न रहा होगा। पत्थर की मूर्तियों और मृण्मूर्तियों में एक और अंतर था। पत्थर की मूर्तियां अधिक टिकाऊ थीं। वे अधिक दिनों तक ज्यों की त्यों बनी रहती थीं। जबकि मृण्मूर्तियां आंधी-पानी से शीघ्र ही नष्ट हो जाती थीं। धार्मिक अनुष्ठान के लिए बार-बार मृण्मूर्तियों को खरीदना पड़ता था। यदि एक बार अधिक मूल्य चुकाकर पत्थर की देव-मूर्तियां खरीद ली जातीं तो बार-बार मृण्मूर्तियों पर खर्च करने का झंझट समाप्त हो जाता। पत्थर की मूर्तियों को खरीदने के लिए जितना धन एक साथ लगाना होता था, उतना सर्वसाधारण को जुटा पाना संभव न था। समाज के अल्पसंख्यक धनाढ्य लोग मूल्यवान पत्थर की मूर्तियों की पूजा-अर्चना करते होंगे। अथवा उनसे अपने घर सजाते होंगे, पर बहुसंख्यक जनसाधारण को मृण्मूर्तियों से ही संतोष करना पड़ता होगा। इन्हीं कारणों से पहले की बनी पत्थर की मूर्तियां बहुत कम है जबकि मृण्मूर्तियों की संख्या अधिक है।

शुंग-कुषाण काल (ई. पू. 187 से ईस्वी 225) में समाज में धर्म की गतिविधियां अधिक बढ़ गयी थीं। एक ओर बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ था और दूसरी ओर वासुदेव पूजा के रूप में ब्राह्मण धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा हो रही थी। कला धर्म की संवाहिका है। धार्मिक भक्ति-भावना के फलस्वरूप विभिन्न देवी-देवताओं की मृण्मूर्तियां तो बनायी गयी थी, साथ ही साथ प्रस्तर-मूर्तियों का अंकन भी किया जाने लगा था। पत्थर की मूर्तियां बनाना या बनवाना कठिन और महंगा कार्य था। पर कुषाणकाल में हुयी व्यपारिक प्रगति के कारण समाज में, विशेषकर व्यापारी और शासक वर्ग के पास धनाधिक्य था। अस्तु उनकी धार्मिक भावना की संपूर्ति सहज रूप से संभव थी। इसी कारण इस युग में पत्थर की मूर्तियां भी अधिक संख्या में गढ़ी जा सकी थीं। ये परिस्थितियां गुप्तकाल तक बनी रहीं। गुप्तकाल आर्थिक दृष्टि से बड़ा समृद्ध हो चला था। समाज में संपन्नता थी। अतः प्रस्तर-मूर्तियों की मांग भी बराबर बढ़ती जा रही थी। धनी-मानी अथवा समाज के संपन्न लोग अब अधिकाधिक संख्या में पत्थर की मूर्तियां बनवाने लगे किंतु सर्वसाधारण अब भी मृण्मूर्तियों से ही काम चलाता था।

इस परिस्थिति को आज के संदर्भ में भी समझा जा सकता है। इधर कुछ समय से दीपावली की रात में जिन

लक्ष्मी-गणेश का पूजन किया जाता है वे मिट्टी के अलावा चांदी अथवा सोने के भी होते हैं। धनिक वर्ग के धर में लक्ष्मी-गणेश की मूर्तियां चांदी अथवा सोने की होती हैं। जो इन मूर्तियों को नहीं बनवा सकते हैं, वे इन्हें रजत पत्र या स्वर्णपत्र पर अंकित करवा लेते हैं अथवा और नहीं तो चांदी के रुपए जैसे पदक में लक्ष्मी-गणेश की आकृति बनवाकर उसकी पूजा करते हैं। परंतु बहुसंख्यक जनसाधारण पहुंच के बाहर होने के कारण मृण्मूर्तियों पर ही निर्भर करते हैं।

गुप्तकाल में भारतीय समाज की आर्थिक प्रगति इस स्थिति में पहुंच गयी थी कि शासक वर्ग एवं व्यापारी वर्ग ने बड़े- बड़े मंदिर बनवाये और उनमें विभिन्न देवी-देवताओं की विशाल और भव्य प्रस्तर-प्रतिभाओं की स्थापना की। इन मंदिरों की भित्तियों, स्तंभों द्वारा-चौखटों, शिखरों आदि को सजाने के लिए बहुत बड़ी संख्या में मूर्तियों का निर्माण किया गया। ये मंदिर सार्वजनिक उपयोग के लिए थे। अब समाज का बहुसंख्यक जनसाधारण भी इन मंदिरों में जाकर अपनी धार्मिक पूजा-अर्चना कर सकता था। मंदिरों की बढ़ती संख्या के परिणामस्वरूप अब प्रत्येक घर में चलने वाले धार्मिक अनुष्ठान मंदिरों में सिमटने लगे। परिणामस्वरूप सर्वसाधारण के काम में आने वाली मृण्मूर्तियों की खपत अब समाज में कम हो गयी थी। धीरे-धीरे मंदिरों की संख्या बढ़ती गयी और तब मृण्मूर्तियों का निर्माण कम होते-होते समाप्त सा हो गया। दूसरी बात यह भी हुयी कि समाज में धनी वर्ग की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी फलतः बहुमूल्य प्रस्तर मूर्तियों की मांग बढ़ती गयी। इसीलिए गुप्तोत्तरकाल में प्रस्तर-मूर्तियों के निर्माण में बढ़ोत्तरी हो गयी थी। ऐसा जान पड़ता है कि जो कलाकर अभी तक मृण्मूर्तियों का निर्माण करते आ रहे थे, उनके वंशजों ने अब पत्थर पर छेनी चलाने की शिक्षा ग्रहण की और पीढ़ी दर पीढ़ी उसमें कुशलता प्राप्त कर ली।

गुप्तोत्तर कला में मृण्मूर्तियों के निर्माण की कमी का एक और भी कारण तर्कसंगत जान पड़ता है। पत्थर की मूर्तियों का निर्माण अत्यंत श्रम-साध्य था। उसके कलाकार की शिल्प-साधना का उसमें विशेष योगदान रहता था। पत्थर को तराशना, मनचाहा आकार देना, मुख-मुद्राओं का सभ्यक् भाव-प्रदर्शन करना और उन्हें सजीव बनाना एक अत्यंत दुष्कर कार्य था। इसीलिए प्रस्तर-मूर्ति का निर्माण करवाना सर्वसाधारण की आर्थिक पहुंच के बाहर था। किंतु स्थायी मूर्तियों की आकांक्षा तो सबमें जाग उठी थी। इस आकांक्षा की संपूर्ति के लिए भारतीय कलाकार ने एक नई युक्ति अपनायी। गुप्तकाल से ही प्रस्तर-मुर्तियों की बढ़ती हुयी लोकप्रियता को ध्यान में रखकर भारतीय कलाकार ने मृण्मूर्तियों के ही समान सांचे में ढालकर धातु-मूर्तियां ढाली जा सकती थीं और उनके निर्माण में न तो समय अधिक लगता था और न श्रम न सावधानी। ऐसा नहीं कि धातु की विशाल मूर्तियों का निर्माण नहीं हुआ था। सुल्तानगंज (बिहार) से पायी गयी स्थानक बुद्ध की कांस्य मूर्ति लगभग साढ़े सात फिट ऊंची है। परंतु अधिकांश धातु-मूर्तियां आकार में छोटी ही बनायी गयी थीं। छोटी होने तथा सांचे में ढली होने के कारण ये मूर्तियां अपेक्षाकृत काफी सस्ती थीं। जैन तीर्थंकरों, बुद्ध-बोधिसत्त्वों तथा ब्राह्मण धर्म-संबंधी देवताओं- विष्णु, कृष्ण, गणेश, लक्ष्मी, दुर्गा आदि की छोटी-छोटी धातु-मूर्तियां अधिक संख्या में ढाली जाने लगीं। भारत में पायी जाने वाली धातु-मूर्तियाँ कुछेक अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी गुप्तोत्तर काल की ही हैं। जिन संभ्रांत परिवारों में अब भी अपने घरों में ही धार्मिक अनुष्ठान संपन्न करने की इच्छा थी उन घरों में इन धातु-मूर्तियों ने मृण्मूर्तियों का स्थान ले लिया। कालांतर में इन धातु-मूर्तियों की स्थापना सार्वजनिक एवं निजी मंदिरों में भी की जाने लगी और इस प्रकार समाज में मृण्मूर्तियों की उपयोगिता समाप्त-सी हो गयी।

मृण्मूर्तियों के स्थान पर प्रस्तर-मूर्तियों और धातु-मूर्तियों की अधिक लोकप्रियता के पीछे संभव है, देव-मूर्ति में नश्वरता-अनश्वरता की भावना का भी यत्किंचित् योगदान रहा हो। भारत में देवी-देवताओं को अजर-अमर, अनश्वर अथवा अविनाशी माना गया है। किंतु शीघ्रनाश होने वाली. मृण्मूर्तियों से इस भावना से ठेस पहुंचती होगी। इसके स्थान पर सैकड़ों वर्षो तक टिकाऊ रहने वाली प्रस्तर और धातु-मूर्तियों से अविनाशी इष्टदेव की अवधारणा बलवती हो गयी होगी। इसके अतिरिक्त पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक ही इष्टदेव (प्रस्तर अथवा धातु-मूर्ति)

की निरंतर पूजा करते रहने से उस देव-मूर्ति के प्रति जो अपनापन या तादात्म्य का भाव भक्त के हृदय में जाग्रत होता है वह बार-बार बदली हुयी मृण्मूर्तियों से स्यात् संभव न था। धार्मिक अनुष्ठान में प्रायः इष्टदेव को स्नान कराना, वस्त्रालंकार पहनाना, उनका बहुविधि शृंगार करना, भोग लगाना और कीर्त्तन-भजन से प्रसन्न करना सम्मिलित है। मृण्मूर्ति को स्नान कराना कदापि संभव न था। उसका शृंगार भी बड़ी सावधानी से करना पड़ता होगा। किंतु जबसे प्रस्तर-मूर्तियों और धातु-मूर्तियों का प्रादुर्भाव धार्मिक अनुष्ठानों में किया जाने लगा तबसे इष्टदेव का सर्वांग पूजन संभव हो सका। इन विभिन्न जनव्यापी भावनाओं ने भी मृण्मूर्तिकला की व्यापकता को समाप्त करने में अपनी महती भूमिका अवश्य निभायी होगी।

मकर वाहिनी गंगा, अहिच्छत्रा
मृण्मूर्ति, गुप्तकाल

कच्छपवाहिनी यमुना, मृण्मूर्ति
अहिच्छत्रा, गुप्तकाल

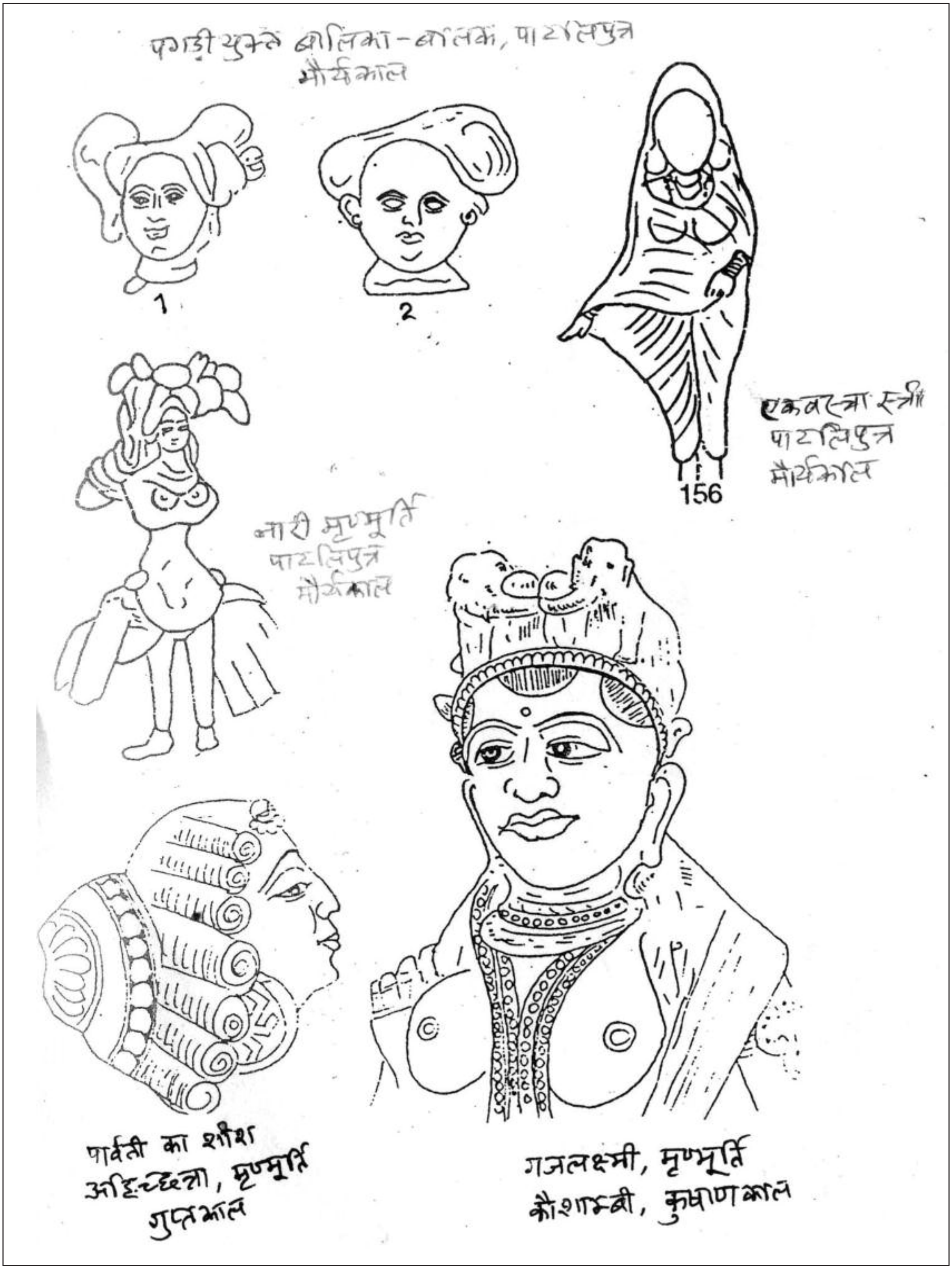
पगड़ी युक्त बालिका-बालक, पाटलिपुत्र
मौर्यकाल
1
2
156
एकवस्त्रा स्त्री
पाटलिपुत्र
मौर्यकाल
नारी मृण्मूर्ति
पाटलिपुत्र
मौर्यकाल
पार्वती का शीश
अहिच्छत्रा, मृण्मूर्ति
गुप्तकाल
गजलक्ष्मी, मृण्मूर्ति
कौशाम्बी, कुषाणकाल

राजलक्ष्मी, मृण्मूर्ति, कौशाम्बी, शुंगकाल
गोपीकृष्ण कनौडिया, पटना से प्राप्त

A Terracotta plaque, Gaja-Lakṣmī in
Rahul Sankrityayan Museum, Kushinagar, U.P.

क्या दशार्ण उड़ीसा में था

प्रथम शती ई. में भारतीय उपमहाद्वीप की सागरतटीय यात्रा करने वाले यूनानी नाविक पेरिप्लस ने अपने विवरणों (पेरिप्लस ऑफ दि इरीथ्रियन सी) में लिखा है कि मसलिया (मछलीपट्टन) क्षेत्र के आगे पूर्व की ओर बढ़ने पर तथा सामने की खाड़ी को पार करने पर दोसारेन (DOSARENE) नाम का क्षेत्र है जहाँ हाथी दाँत अधिक होता है1। पेरिप्लस के इन विवरणों का अंग्रेजी अनुवाद करने वाले विल्फ्रेड एच. स्कॉफ़ ने दोसारेन को संस्कृत का दशार्ण माना है और इसकी पहचान आधुनिक उड़ीसा से की है[2]। स्कॉफ महोदय ने यह भी लिखा है कि इस दशार्ण का उल्लेख विष्णुपुराण तथा रामायण में भी हुआ है[3]। तो क्या दशार्ण उड़ीसा में था?

दशार्ण प्राचीन भारत का एक जनपद था। यह व्यापार का एक केन्द्र था। यहाँ के व्यापारियों का उल्लेख दशकुमारचरित में 'वैदेशिक वणिक्' (विदिशा का व्यापारी) के रूप में हुआ है [4]। जातक-कथाओं में दशार्ण की बनी तीक्ष्ण तलवारों की चर्चा है- 'दसण्णकं तिखिणाधारं असिम्।'[5] दशार्ण दन्तकला का भी केन्द्र था। विदिशा में दन्तकारों का एक संघ था जिसका उल्लेख साँची के विशाल स्तूप के एक तोरण के अभिलेख में हुआ है जिसे उन्होंने ही निर्मित किया था- 'वेदिसकेहि दन्तकारेहि रूपकम्मं कतम्।'[6]

दशार्ण का वर्णन प्राचीन ग्रंथों में एक जनपद, देश अथवा एक जाति के रूप में हुआ है। प्राचीन भारत के सोलह महाजनपदों की सूची अंगुत्तरनिकाय, भगवतीसुत्त, ललितविस्तर तथा महावस्तु में पायी गयी है। ललितविस्तर की सूची में दशार्ण को जम्बूद्वीप का एक महाजनपद कहा गया है- 'सर्वैस्मिन्जम्बुद्वीपे षोडशजन-पददेषु...।'[7] महावस्तु 1/34 की सूची में गंधार और कम्बोज के स्थान पर शिवि और दशार्ण की गणना की गयी है[8]।

महाभारत, रामायण, मार्कण्डेयपुराण, मेघदूत तथा बृहत्कल्पसूत्रभाष्य में दशार्ण का वर्णन एक देश के रूप में किया गया है। महाभारत के भीष्मपर्व (9/58) में तथा रामायण (4/41/9) में दक्षिणापथ के जनपदों मे दशार्ण की गणना है। एक अन्य स्थल पर महाभारत (2/5/10) विदिशा को दशार्ण की राजधानी बतलाता है[9]। हरिवंशपुराण के हरिवंशपर्व (18/68) तथा विष्णुपर्व (29/10) भी दशार्ण की स्थिति दक्षिणापथ में ठहराते हैं।

मार्कण्डेय पुराण (57/21-25) में दशार्ण देश के नाम की उत्पत्ति का कारण इस नाम की नदी को बताया गया है जो इसके बीच होकर बहती थी[10]। यहां विन्ध्य-क्षेत्र के जिन जनपदों की गणना है वे हैं अवन्ति, भोज, विदिशा, मालव, दशार्ण, कारूष, निषध, तुम्बुर, उत्कल, तोसल, कोसल तथा मेकल[11]। महाभारत के समान ही मेघदूत में भी दशार्ण देश की राजधानी विदिशा बतायी गयी है (सम्पत्स्यन्ते कतिपपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः। तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीम्।। 1/25)। जैन ग्रंथ बृहत्कल्पसूत्रभाष्य (सूत्र 3263) में मौर्ययुग के 25 राज्यों का उल्लेख है जिनमें एक राज्य का नाम दशण्णा बताया गया है जिसकी राजधानी मत्तियाबई थी[12]। डा. मोतीचन्द्र ने दशण्णा से दशार्ण तथा मत्तियाबई से मत्तिकावती अर्थ निकाला है[13]।

महाभारत में दशार्ण का वर्णन एक जाति के रूप में भी हुआ है[14]। यूनानी लेखक टालेमी के विवरणों में भी दशार्ण नामक एक भारतीय जाति का उल्लेख प्राप्त होता है। प्राचीन भारत संबंधी मैक्रिण्डल के विवरणों के आधार पर टालेमी ने लिखा है कि दसारोन उस क्षेत्र की नदी है जहां दशार्ण लोग रहते हैं[15]। टालेमी का यह वर्णन मार्कण्डेय पुराण से मिलता-जुलता है।

दशार्ण जनपद की स्थिति अधिकांश ग्रंथों के आधार पर पूर्वी मालवा में ठहरायी जा सकती है। मेघदूत तथा महाभारत में दशार्ण की राजधानी विदिशा बतलायी गयी है। विदिशा पूर्वी मालवा का एक नगर था। अतएव दशार्ण की स्थिति भी पूर्वी मालवा में ही रही होगी। मार्कण्डेयपुराण में कहा गया है कि दशार्ण जनपद में दशार्ण नाम की नदी बहती थी और उसी नदी के नाम पर उस जनपद का नाम दशार्ण पड़ा था। दशार्ण नदी की पहचान आधुनिक धसान नामक नदी से की जाती है जो बेतवा की एक सहायक नदी है। कुछ विद्वान विदिशा और दशार्ण को दो पृथक् जनपद मानते हैं जो क्रमशः बेतवा के ऊपरी तटों पर तथा धसान नदी के आस-पास रहे होंगे। परंतु किसी प्राकृतिक सीमा के अभाव में वे दोनों प्रायः एक-दूसरे के पर्याय मालूम पड़ते थे[17]।

वात्स्यायन, कालिदास, वराहमिहिर, बाण, राजशेखर तथा यशोधर के अनुसार भी पूर्वी मालवा ही दशार्ण कहलाता था[18]। महाभारत में पुलिन्दों की राजधानी पुलिन्दनगर को दशार्ण नदी के आस-पास बसे दशार्ण देश के दक्षिण-पूर्व में बतलाया गया है[19]। वायुपुराण (77/93) तथा ब्रह्माण्डपुराण (3/13/100) में दशार्ण को कालंजर के पश्चिम में स्थित कहा गया है[20]। कालंजर उत्तर प्रदेश के बाँदा जिले में बाँदा से 33 मील दक्षिण-पूर्व में है। कालंजर का यह क्षेत्र बुन्देलखण्ड कहलाता था। बुन्देलखण्ड के पश्चिम में बेतवा से सिंचित पूर्वी मालवा का प्रदेश है। अस्तु, यहीं पर दशार्ण जनपद रहा होगा। बृहत्कल्पसूत्रभाष्य में उल्लिखित 'दशण्णा' की पहचान डा. मोतीचन्द्र ने दशार्ण से की है और इसे पूर्वी मालवा में स्थित बतलाया है[21]।

डा. विमलचरण लाहा को रामायण के दशार्ण और मेघदूत के दशार्ण दो भिन्न देश मालूम पड़ते हैं[22]। उनकी यह बात विचारणीय है। रामायण[23] के किष्किंधाकाण्ड में सीता की खोज के लिए, सुग्रीव वानरों को सभी दिशाओं में भेजते हैं और उस अवसर पर वे उन दिशाओं में पड़ने वाले जनपदों, नगरों, पर्वतों, नदियों आदि का उल्लेख करते हैं। दक्षिण दिशा की ओर वानरों को भेजते हुए उन्होंने कहा-

सहस्त्रशिरसं विन्ध्यं नानाद्रुमलतायुतं
नर्मदां च नदीं रम्यां महोरगनिषेविताम्। 41/8
ततो गोदावरीं रम्यां कृष्णवेणीं महानदीम्
वरदां च महाभागां महोरगनिषेविताम्
मेखलानुत्कलांश्चैव दशार्णनगराण्यपि। 41/9
आब्रवन्तीमवन्तीं च सर्वमेवानुपश्यत
विदर्भानृष्टिकांश्चैव रम्यान् महिषकानपि। 41/10
तथा वंगान् कलिंगांश्च कौशिकांश्च समन्ततः
अन्वीक्ष्य दण्डकारण्यं सपर्वतनदीगुहम्। 41/11
नदीं गोदावरीं चैव सर्वमेवानुपश्यत
तर्थवांन्ध्रांश्च पुण्ड्रांश्च चोलान् पाण्ड्यांश्च केरलान्। 41/12

यहाँ विन्ध्य प्रदेश के दक्षिण में अवस्थित प्रायः सभी प्रमुख जनपदों का उल्लेख हुआ है। मेखल (मेकल) और उत्कल को दशार्ण से पहले तथा अब्रवन्ती और अवन्ती को दशार्ण के बाद गिनाया गया है। इससे ऐसा आभास होता है कि ये जनपद पूर्व से पश्चिम की ओर क्रमिक स्थिति में रहे होंगे। ऐसी स्थिति में दशार्ण का सम्भावित क्षेत्र पूर्वी मालवा स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं जान

पड़ती है। क्योंकि मेकल एवं उत्कल पूर्वी मालवा के पूर्व में और अवन्ती के पश्चिम में थे। अतएव डा. विमलचरण लाहा का यह अभिमत तर्कसंगत नहीं जान पड़ता है कि रामायण का दशार्ण मेघदूत के दशार्ण से भिन्न देश था।

उपरोक्त तथ्यों के प्रकाश से स्कॉफ़ महोदय द्वारा पेरिप्लस के दोसारेन को दशार्ण मानना और उसकी पहचान उड़ीसा से करना तर्कसंगत नहीं जान पड़ता है क्योंकि प्रायः सभी भारतीय ग्रंथों में दशार्ण की स्थिति उड़ीसा में न होकर पूर्वी मालवा में संकेतित है। विष्णुपुराण के सम्पादक विल्सन महोदय ने पूर्वी दशार्ण या दक्षिण-पूर्वी दशार्ण को मध्य भारत के आधुनिक छत्तीसगढ़ का एक अंग माना है[24]। छत्तीसगढ़ उड़ीसा के निकट है। सम्भव है, इसीलिए स्कॉफ़ महोदय ने दोसारेन को दशार्ण मानकर इसकी पहचान आधुनिक उड़ीसा से की हो।

वस्तुतः स्कॉफ़ महोदय द्वारा पेरिप्लस के दोसारेन को संस्कृत का दशार्ण मान लेना ही त्रुटिपूर्ण है। पेरिप्लस के विवरण के आधार पर दोसारेन को आधुनिक उड़ीसा क्षेत्र में ही होना चाहिए। पेरिप्लस के प्रथम शती ई. में आने से पूर्व उड़ीसा क्षेत्र को कलिंग कहा जाता था और सम्राट् अशोक के समय इसकी राजधानी तोसाली थी। अशोक ने अपने प्रथम कलिंग-शिलाभिलेख में तोसाली (धौली) के नगर व्यावहारिक महामात्रों को संबोधित किया है- देवानंपियस वचनेन तोसालियं महामातनगल-वियोहालका[25]। संभवतः पेरिप्लस ने तोसाली को ही दोसारेन कहा था। व्यंजन त का द में और ल का र में परिवर्तन भाषागत स्वभाव है। इसलिए पेरिप्लस द्वारा तोसाली का दोसारेन कहा जाना नितांत असंगत नहीं कहा जा सकता है। यदि यह अनुमान सही है तो पेरिप्लस का दोसारेन तोसाली था, दशार्ण नहीं और दशार्ण पूर्वी मालवा में था उड़ीसा में नहीं।

संदर्भ

1. पेरिप्लस आफ दी इरीथ्रियन सी, अंग्रेजी अनु. विल्फ्रेड एच. स्कॉफ़, द्वितीय संस्करण, नई दिल्ली, 1974, टेक्स्ट सं. 62, पृ. 47। **2.** वही, टिप्पणी सं. 62, पृ. 253। **3.** वही। **4.** दशकुमारचरित। **5.** जातक, 3/338 (फॉसबौल संस्करण)। **6.** एन.जी. मजूमदार, मान्यूमेण्ट्स ऑफ़ सांची, खण्ड 1, अभिलेख सं. 400। **7.** ललितविस्तर। **8.** सं. राजेन्द्रलाल मित्र कलकत्ता, 1877, पृ. 95, पाद टिप्पणी 1। **9.** परमानन्द गुप्त, ज्योग्रेफ़ी इन एन्शियण्ट इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स, दिल्ली, 1973, पृ. 120। **10.** विमलचरण लाहा, हिस्टॉरिकल ज्योग्रेफ़ी ऑफ़ एन्शियण्ट इण्डिया, दिल्ली ,1926, पृ. 314। **11.** एस. एम. अली, दि ज्योग्रोफ़ी ऑफ़ दि पुराणाज, नई दिल्ली, 1973, पृ. 158। **12.** मोतीचन्द्र, सार्थवाह, पटना, 1966, पृ. 76। **13.** वही, पृ. 77। **14.** महाभारत, 2।5।10। **15.** मजूमदार, सं. मैक्रिण्डल्स ऐन्शियण्ट इण्डिया ऐज डेस्क्राइब्ड बाइ टालेमी, पृ.71 द्रष्टव्य, विमलचरण लाहा, उपरोक्त, पृ. 314। **16.** विमलचरण लाहा, उपर्युक्त। **17.** एस, एम, अली, उपरोक्त, पृ. 159। **18.** परमानन्द गुप्त, ज्योग्रैफिकल नेम्स इन एन्शियण्ट इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स, दिल्ली, 1977, पृ.25। **19.** हेमचन्द्र रायचौधरी, उपर्युक्त, पृ. 64। **20.** सुशीलकुमार सेल्लेरे, कालंजर की प्राचीनता, जर्नल, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, वाल्यूम 32, पृ. 18। **21.** मोतीचन्द्र, उपर्युक्त, पृ. 77। **22.** विमलचरण लाहा, उपरोक्त, पृ. 314। **23.** गीताप्रेस, गोरखपुर संस्करण। **24.** विल्सन, विष्णुपुराण, वाल्यूम 2, पृ. 160, पाद-टिप्पणी 3, तुलनीय जर्नल ऑफ़ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, 1905, पृ. 7 एवं 14। **25.** कलिंग शिला प्रज्ञापन, 1. द्रष्टव्य, राधाकुमुद मुखर्जी, अशोक, दिल्ली, 1962, पृ. 218।

बुद्ध के वक्ष पर श्रीवत्स चिह्न

प्रायः ऐसा मान लिया जाता है कि गौतम बुद्ध की प्रतिमाओं के वक्ष पर महापुरुषलक्षण 'श्रीवत्स' नहीं मिलता है जबकि कतिपय प्रारंभिक तीर्थंकर-प्रतिमाओं को छोड़कर कुषाण-काल से लेकर बाद में भी प्रायः सभी तीर्थंकर प्रतिमाएं श्रीवत्स वक्षलांछन से अलंकृत मिली हैं। परंतु बौद्ध साहित्य में भी श्रीवत्स समेत अन्य अनेक महापुरुष-लक्षणों का उल्लेख मिलता है और श्रीवत्स चिह्न धारण करने वाली बुद्ध-प्रतिमाएं भी मिली हैं।

सामान्यतः ऐसा विश्वास किया जाता है कि जन्म से ही महापुरुषों के अंग पर कतिपय लक्षणों की उपस्थिति रहती है। शीश पर केश-विन्यास के रूप में तथा वक्ष, हथेलियों (करतल) और पैर के तलुओं (पदतल) पर रेखाओं से बने विभिन्न मांगलिक चिह्न सुशोभित रहते हैं। इन्हें महापुरुष के लक्षण, लांछन, चिह्न अथवा व्यंजन कहते हैं। बौद्ध ग्रंथों में ये चिह्न दो प्रकार के बताये गये हैं। महाव्यंजन (प्रमुख लक्षण) तथा अनुव्यंजन (सामान्य लक्षण))।1 जिस महापुरुष के शरीर पर महाव्यंजन दिखायी देते हैं उसकी महानता विश्वविख्यात होती है। बोधिसत्व सिद्धार्थ के जन्म के अवसर पर उनके शरीर के इन्हीं महाव्यंजनों को देखकर ही स्वप्न-विज्ञान तथा ज्योतिष के जानकार ऋषियों ने उस बालक के सम्राट अथवा महात्मा बनने का भविष्यवाणी की थीं।

बौद्ध ग्रंथ ललितविस्तर, महापधानसुत्त, धर्मप्रदीपिता आदि में दोनों प्रकार के व्यंजनों (लक्षणों) की सूचियां मिलती हैं। ललितविस्तर (पृ. 75, पंक्ति 26) में सिद्धार्थ के केशविन्यास में कतिपय अन्य लक्षणों के साथ श्रीवत्स भी द्रष्टव्य बताया गया है- श्रीवत्स-स्वस्तिक-नन्द्यावर्त-वर्धमान संस्थानकेशश्च महाराजः सर्वार्थसिद्धः कुमारः। महाव्यंजनों और अनुव्यंजनों की संख्या क्रमशः 32 और 80 बतायी गयी है।[2] यद्यपि इन चिह्नों में श्रीवत्स की भी गणना है तथापि ये सभी करतल और पदतल के चिह्न बताये गये हैं। मज्झिम-निकाय के ब्रह्मसुत्तन्त (2/5/1) में तथा दससाहस्रिका प्रज्ञापारमिता में 32 महाव्यंजनों की सूची दी गयी है। इसमें श्रीवत्स भी सम्मिलित है। सम्यक-सम्बुद्धभाषित प्रतिमामानलक्षण में परिगणित हथेली के अनेक देवपुरुष-लक्षणों में भी श्रीवत्स का उल्लेख है-

हस्तरेखां प्रवक्ष्यामि देवानां शुभलक्षणम्
शंखं पद्मं ध्वजं चक्रं वज्रं स्वस्तिककुण्डलम्।।53।।
कलशं शशिनक्षत्रं श्रीवत्सांकुशमेव च त्रिशूलं यव (जय) मालाश्च कुर्वीत् वसुधां तथा ।।54।।3

धर्म संग्रह (खण्ड 1, भाग 5, पृ 20) तथा महाव्युत्पत्ति (18/80) में भी श्रीवत्स समेत कतिपय अनुव्यंजनों को करतल तथा पदतल के चिह्नों के रूप में गिनाया गया है- श्रीवत्सस्वस्तिकनन्द्यावर्तललित (लक्षित) पाणिपादः। लोकोत्तरवादिन बौद्धों के ग्रंथ महावस्तु (2/304, पंक्तिः 16-17) में भी तलुवे पर स्वस्तिक और उस पद की उंगलियों के तल पर सर्वत्र नन्द्यावर्त बनाने का उल्लेख है-

ह्योष्ठा पादतलाजाता स्वस्तिकैः उपशोभिताः।
पादांगुलीषु सर्वत्र नन्द्यावर्त उद्धता।।[4]

अर्थविनिश्चय- सूत्रनिबंधन में न केवल अनुव्यंजनों की संख्या 80 बतायी गयी है, अपितु विभिन्न चिह्नों के स्थान (वक्ष, करतल अथवा पदतल) का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख है। एक सूत्र (27/27) में कहा गया है-श्रीवत्स-स्वास्तिक-नन्द्यावर्त-चक्र-वज्र-पद्म-मत्स्यादि लांछनपाणिपादतलाश्च बुद्धा भगवन्तो भवन्ति। इमान्यशीतैः अनुव्यंजनानि। उसी सूत्र में अन्यत्र (27/63) कहा गया है कि (महापुरुषों के) 80 अनुव्यंजन स्पष्ट हैं, श्रीवत्स आदि का विस्तृत वर्णन इस प्रकार है- उनके वक्ष पर श्रीवत्स लक्षण वर्णित है, पादतल पर अन्य होते हैं। एड़ीतल पर स्वस्तिक, उंगलियों के तल पर नन्द्यावर्त तथा उनके ऊपर मीन-मिथुन का स्थान है। चक्र हथेली तथा तलुवे पर, वज्र हथेली पर और पद्म चिह्न हथेली और तलुवे दोनों पर कहा गया है- आशीत्यनुव्यंजनानि स्पष्टार्थानि। श्रीवत्सेत्यादि विस्तरः। तत्र हृदये श्रीवत्सलक्षणं वर्णयन्ति, पादतले इत्यन्ये। पार्ष्णितले स्वस्तिकः। अंगुलितलेषु नन्द्यावर्तः तदुपरि मत्स्ययुग्म। चक्रं पाणिपादयोः कथितम्। वज्रं पाणितले। पद्मं पाणितले पादतले चेति।

इन महापुरुष-लक्षणों को बुद्ध की प्रतिमाओं के करतल तथा पदतल पर अंकित पाया गया है। उत्तर भारत के कौशाम्बी तथा सांची स्थानों पर और दक्षिणभारत के अमरावती, केसनापल्ली, नागार्जुन, घण्टशाल आदि स्थानों से मिले बुद्ध पदों पर ऊपरिलिखित कई चिह्नों का अंकन द्रष्टव्य है।[5] जहां तक बुद्ध के वक्ष-लक्षण श्रीवत्स का प्रश्न है, बौद्ध ग्रंथ अर्थविनिश्चय- सूत्रनिबन्धन के इस एक मात्र वाक्य से उसकी सुपुष्टि हो जाती है- तत्रहृदये श्रीवत्सलक्षणम्। उपर्युक्त साहित्यिक साक्ष्य की परिपुष्टि कतिपय बुद्ध-प्रतिमाओं से हो जाती है। यहां पर ध्यातव्य है कि जैन तीर्थंकरों तथा विष्णु की श्रीवत्स-लक्षणधारी बहुसंख्यक प्रतिमाओं की अपेक्षा श्रीवत्सधारी बुद्ध-प्रतिमाओं की संख्या बहुत कम है। संभवतः इसका कारण बुद्ध के चीवर अथवा संघाटि से उनके वक्ष का ढंका होना रहा हो। जो भी हो, बुद्ध के वक्ष पर श्रीवत्स लांछन से अंकित कतिपय प्रतिमाएं तथा चित्र मिले हैं जिनका उल्लेख आवश्यक है।

उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद जनपद में भीटा नामक स्थान से द्वितीय शती ई. की शीशविहीन बुद्ध प्रतिमा मिली है जो संप्रति इलाहाबाद-संग्रहालय में है (संग्रहालय संख्या ए.एम.71)।[6] प्रतिमा के बाएं स्कन्ध तथा हाथ पर संघाटि की उपस्थिति स्पष्ट है। वक्ष पर श्रीवत्स का अंकन स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य है (चित्र 1)। श्रीवत्स चिह्न की आकृति द्वितीय शती के श्रीवत्स जैसी ही है। श्रीलंका में अनुराधापुर[7] में बोधिवृक्ष के नीचे ध्यानमुद्रा में बैठी उसी काल की बुद्ध-प्रतिमा के वक्ष पर तथा मथुरा[8] की अभयमुद्रा में गांधार शैली में उकेरी एक आसन-मूर्ति के वक्ष पर भी श्रीवत्स लक्षण का अंकन जान पड़ता है। राज्य संग्रहालय लखनऊ में संग्रहीत गांधार शैली की ही तीन बुद्ध मूर्तियों (सं. सं.

0.283 तथा दो मूर्तियां फलक सं. जी-258) तथा एक बोधिसत्त्व-मूर्ति (सं. सं. 47.10) के वक्ष पर संघाटि के ऊपर श्रीवत्स चिह्न के अंकन की संभावना जान पड़ती है, क्योंकि छायाचित्रों में दिखायी पड़ने वाले चिह्न की आकृति संघाटि की सलवटों से नहीं बन सकती है। बुद्ध के वक्ष पर श्रीवत्स के न होने की बात सी. शिवराममूर्ति की मान्यता10 से इतनी बलवती थी कि प्रायः विद्वानों का ध्यान बुद्ध के वक्ष पर श्रीवत्स की ओर जाता ही न था। संभवतः इसी कारण से मूर्ति-विज्ञान के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों की दृष्टि भी उस धूमिल आकृति पर नहीं पड़ी होगी।

मध्य एशिया में बलवस्ते नामक स्थान के एक चित्र में बुद्ध का आवक्ष अंकन है। संप्रति भारत के राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में संरक्षित इस चित्र में बुद्ध के वक्ष पर तथा भुजाओं पर अनेक लांछन चित्रांकित हैं। वक्ष पर नीचे से एक दौड़ता अश्व, वेदिका से आवेष्टित तथा आसन पर प्रतिस्थापित एक मंगल कलश और उससे प्रस्फुटित पद्म-वल्लरी के शीर्ष पर प्रतिष्ठित श्रीवत्स का अंकन है (चित्र 2)। इस चित्र में बुद्ध के वक्ष पर संघाटि का अंकन शायद इसलिए नहीं किया गया है ताकि उनके महापुरुष-लक्षण द्रष्टव्य रह सकें। श्री शिवराममूर्ति ने इस चित्रांकन को तीसरी-चौथी शती में[11] तथा ऑरेल स्टाइन तथा एफ. एच. एण्ड्रयूज़ ने सावतीं-आठवीं शती में रखा[12] है।

बुद्ध के वक्ष पर महापुरुष-लक्षण वाला एक चित्र हमें चीन की चित्रकला में भी मिला है। प्रभामण्डल से युक्त और पद्मासन में बैठे बुद्ध के बाएं कंधे से नीचे आती हुई संघाटि भी है, तथापि उनके हृदय भाग पर लक्षण अंकित है (चित्र 3)। किंतु यह चिह्न भारतीय मूर्तिकला के पारंपरिक चिह्न श्रीवत्स का न होकर वामावर्ती स्वस्तिक का है। ताओ शिह नामक ताओ वंश (सातवीं-आठवीं शदी ई.) के पुजारी ने अपनी पुस्तक में वामावर्ती स्वस्तिक को धारण करने वाले बुद्ध को मूल बुद्ध (ओरिजिनल बुद्ध) बताया है।[13]

वक्ष पर श्रीवत्स के स्थान पर स्वस्तिक का यह अंकन असामान्य है। अद्यावधि ब्राह्मण, जैन, बौद्ध आदि किसी भी धर्म के देवता के वक्ष पर स्वस्तिक नहीं पाया गया है और न ही किसी शिल्प-ग्रंथ में उसका प्रावधान है, हां अभी कुछ समय पहले लेखक को राजस्थान में सूरतगढ़ के रंगमहल से मिले गोवर्द्धनधारी कृष्ण के वक्ष पर दक्षिणावर्ती स्वस्तिक दिखायी पड़ा है जिसे विद्वान अब तक श्रीवत्स मानते रहे हैं। यह मृत्फलक बीकानेर के गंगा गोल्डेन जुबिली म्यूजियम (सं. सं. बी. 229) की विलक्षण निधि है (चित्र4)।[14]

प्रस्तुत विभिन्न बुद्ध-बोधिसत्व मूर्तियों में भीटा से मिली बुद्ध-मूर्ति तथा मध्य एशिया के बलवस्ते नामक स्थान के बुद्ध-चित्र से बुद्ध के वक्ष-लक्षण श्रीवत्स का अभिज्ञान निःसन्देह है और इसकी संपुष्टि बौद्ध ग्रंथ अर्थविनिश्चय-सूत्र निबंधन से अवश्य हो जाती है। यह मानना तर्कसंगत नहीं है कि जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों के वक्ष पर अंकित श्रीवत्स के अनुकरण पर बुद्ध-मूर्तियों के वक्ष पर भी श्रीवत्स का अंकन किया गया होगा, क्योंकि श्रीवत्स धारण करने वाली तीर्थंकर तथा भीटा की बुद्ध-मूर्ति का निर्माणकाल लगभग समान है। जो भी हो, बौद्ध शिल्पग्रंथों तथा मिली ऐसी बुद्ध-मूर्तियों के आलोक में वह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध के वक्ष पर श्रीवत्स लक्षण का ग्रंथों में भी प्रावधान था और उसके पुरातात्विक साक्ष्य भी मिले हैं, भले ही वे संख्या में कम हैं।

संदर्भ

1. जेम्स बर्जेस, बुद्धिष्ट आर्ट इन इण्डिया, नई दिल्ली, 1971, पृ. 161-162। **2.** बेंजामिन वॉकर (हिन्दू वर्ल्ड, 2 वाल्यूम, लन्दन, 1968, STIGMA शब्द, पृ. 430) के अनुसार महाव्यंजन 32 और अनुव्यंजन 76, कुल 108 व्यंजन थे। हेनरिक जिमर (द आर्ट ऑफ इण्डियन एशिया, वाल्यूम 2, न्यूयार्क, 1964, फलक 556) ने अंकोरवारट, कम्बोडिया के 12वीं शती के एक बुद्धपद को प्रकाशित किया है। इसमें श्रीवत्स समेत कुल 108 लक्षण उकेरे गये हैं। **3.** जे.एन. बैनर्जी, डिवेलेपमेंट ऑफ हिन्दू आइक्नोग्रैफ़ी, चतुर्थ संस्करण, नई दिल्ली, 1985, परिशिष्ट बी, पृ. 593। **4.** पी. वी. बापट, 'फोर ऑस्पियशस थिंग्ज़ ऑफ द बुद्धिष्ट्स-श्रीवत्स, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त ऐण्ड वर्धमान,' इंडिका (INDICA): जर्नल ऑव हेराज़ इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, बम्बई, 1953, वाल्यूम 18, पृ. 39। **5.** ए. एल. श्रीवास्तव, नन्द्यावर्तः ऐन ऑस्पिशस सिम्बल इन इण्डियन आर्ट, इलाहाबाद, 1991, चित्र 23/3,4, 24/1-6, पृ. 84-85। 6. प्रमोदचन्द्र, स्टोन स्कल्पचर इन द इलाहाबाद म्यूजियम, बम्बई, 1970, फलक 26। **7.** ए. के. कुमारस्वामी, द डान्स ऑफ शिव, लन्दन, 1957, कवरजैकेट एवं फलक 13। **8.** द हिन्दुस्तान टाइम्स (बुद्ध जयंती नम्बर), नई दिल्ली, 24 मई 1956, चित्र पृ. 19 पर। **9.** एन. पी. जोशी ऐण्ड आर.सी. शर्मा, कैटेलॉग ऑफ गांधार स्कल्पचर्स इन द स्टेट म्यूजियम लखनऊ, 1969, चित्र 13, 37 तथा 55, पृ. क्रमशः 60, 74-75 तथा 82-83। **10.** सी. शिवराममूर्ति, अमरावती स्कल्पचर, मद्रास (चेन्नई), 1942, पृ. 58। **11.** सी. शिवराममूर्ति, द आर्ट ऑफ इण्डिया, न्यूयार्क, 1977, चित्र 82, वही, श्रीलक्ष्मी

इन इण्डियन आर्ट ऐण्ड लिटरेचर, दिल्ली, 1980, चित्र-65। **12.** ऑरेल स्टाइन ऐण्ड एफ, एच, एण्ड्रयूज, वॉल पेंटिंग्ज़ फ्रॉम एन्शियंट श्राइन्स इन सेंट्रल एशिया, लंदन, 1948 (स्रोतः पी. के. अग्रवाल, श्रीवत्स- द बेब ऑफ गाडेस श्री, वाराणसी, 1974, पृष्ठ 52, टि. 6 तथा फलक 61 का विवरण)। **13.** टॉमस विल्सन, द स्वस्तिक, अमरीका 1896, प्रथम भारतीय संस्करण 1973, सम्पादक-जमनादास अख्तर, ओरियंटल पॉब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ.38, फलक 1। **14.** विजय शंकर श्रीवास्तव, कैटेलॉग ऐण्ड गाइड टु गंगा गोल्डेन जुबिली म्यूजियम, बीकानेर, 1960-61, पृ. 7, फलक 2, ए. एल. श्रीवास्तव, 'ऐन यूनीक फ़िगर ऑफ गोवर्द्धनधर कृष्ण', जर्नल ऑफ ज्ञान-प्रवाह, वाराणसी, वाल्यूम 12, 2007-08।

चित्र विवरण : चित्र सं. 1, प्रस्तर बुद्ध प्रतिमा, भीटा (इलाहाबाद संग्रहालय)। चित्र सं. 2, बुद्ध, चित्रांकन, बलवस्ते, मध्य एशिया (राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली)। चित्र सं. 3, चित्रांकन, चीन। चित्र सं. 4, गोवर्द्धनधर कृष्ण, मृत्फलक, रंगमहल (बीकानेर संग्रहालय)।

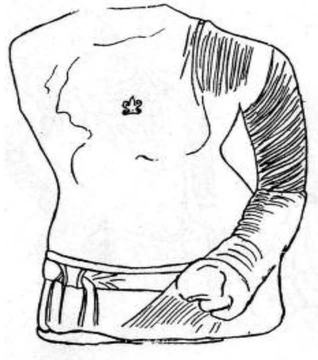

चित्र सं. 1
प्रस्तुर बुद्ध प्रतिमा, भीटा (इलाहाबाद संग्रहालय)

चित्र सं. 2
बुद्ध, चित्रांकन, बलवस्ते, मध्य एशिया (राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली)

चित्र सं. 4
गोवर्द्धन कृष्ण मृत्फलक, रंगमहल (बीकानेर संग्रहालय)

चित्र सं. 3
चित्रांकन, चीन

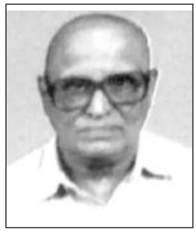

मानव संसाधन विकास मंत्रालय से व 8वें विश्व हिन्दी सम्मेलन (न्यूयार्क) में हिन्दी सेवी के रूप में एवं हिन्दी साहित्य सम्मेलन, केंद्रीय हिन्दी संस्थान सहित अनेक राष्ट्रीय संस्थानों से पुरस्कृत सम्मानित और चेन्नै में हिन्दी के प्रोफेसर रहे वयोवृद्ध हिन्दी-तमिल विद्वान ***डॉ. एम. शेषन*** *का 20 अक्टूबर 2022 को देहांत हो गया। आपने बनारस हिन्दू विश्व विद्यालय से हिन्दी में एमए (स्वर्णपदक विजेता) किया तथा पीएचडी की उपाधि प्राप्त की, वहां ये विभागाध्यक्ष आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के प्रिय छात्र रहे। साहित्य-संस्कृति-इतिहास पर आपके विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में शताधिक लेख एवं 30 ग्रंथ तथा तमिल के कई मानक ग्रंथों के हिन्दी रूपांतरण प्रकाशित हुए। तमिल एवं हिन्दी के बीच सेतु रहे डॉ. शेषन वैचारिकी के लिए निरंतर लेख भेजते रहते थे जिनमें से कई प्रकाशित हो चुके हैं। उनके दो अप्रकाशित लेख यहां सश्रद्ध स्मरण सहित प्रकाशित किये जा रहे हैं।*

प्राचीन द्रविड़ लोग

भारत के प्राचीन इतिहास के पुनर्निर्माण हेतु रामायण तथा महाभारत, इण्डो आर्य जाति के लोगों के लिए कालजयी कृतियां महत्वपूर्ण हैं। ये दोनों ग्रंथ वैदिक युग के अंतिम काल से संबंधित हैं। एफ. ई. पारजीटर के मतानुसार महाभारत का युद्ध ई. पू. एक हजार से पूर्व हुआ होगा। रमेशचन्दर दत्त के मुताबिक महाभारत का युद्ध ई.पू. 1200-1400 के मध्य हुआ। सुप्रसिद्ध इतिहासकार एवं शोधकर्ता डॉ. एस. कृष्णस्वामी अय्यंगार के मतानुसार महाभारत का युद्ध ई. पू. 1500 और ई.पू. 1000 के बीच हुआ होगा। रामायण का युद्ध ई.पू. 1000 और ई.पू. 750 के बीच का हो सकता है। (Ancient India P. -3)। पाणिनी काल में रामायण की कथा समाज में प्रचलित कथा के रूप में बतायी गयी है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार आर. जी. भण्डारकर के अनुसार महाभारत ग्रंथ पाणिनी काल के अर्थात् ई. पू. सातवीं शताब्दी के पूर्व का रहा होगा। ग्रियर्सन के अनुसार ई. पू. आठवीं शताब्दी में रामायण की घटनायें घटी होंगी। महाभारत ग्रंथ में अनेक घटनायें बीच में जोड़ी गयी होंगी। (Jemes Fergusson's Tree, and Serpent Worship P. -58)। ई. सन् दूसरी शताब्दी के पतंजली के महाभाष्य में महाभारत के पात्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। सुप्रसिद्ध विद्वान मैक्डोनल के मतानुसार ये दोनों काव्य ई. पू. दसवीं शताब्दी के हैं। (Macdonells "A History of Sanskrit Literature P. -258)। कुरुवंश एवं पांचाल वंश के बीच के युद्ध और उनके वैवाहिक संबंध आदि के बारे में बहुत प्राचीन युग से बातें मौखिक रूप से प्रचलित थी। कालांतर में 20,000 श्लोकों में इसका लेखन हुआ। **तथापि इन दोनों घटनाओं का काल और फिर इनसे संबंधित महाकाव्यों का काल निर्धारण एक जटिल समस्या है और इनके संबंध में कोई निर्णायक मत नहीं है।** दक्षिण भारत के इतिहास को जानने के निमित्त केवल ई.पू. पांचवीं शताब्दी के महाभारत के प्राचीन गीतों को आधार लिया गया है। मैक्डोनल के मतानुसार रामायण की मूल कथा बुद्ध के काल से भी पूर्व की है।

ई.पूर्व छठी शताब्दी में राम कथा दक्षिण भारत में पहले पहल दृष्टिपथ में आयी। भाषा, सभ्यता-संस्कृति आदि में प्राचीनता प्राप्त तथा आर्यजाति से भिन्न संस्कृति और सभ्यता में पले तमिल लोगों का संपर्क उत्तर भारत से यहां पहुंचे आर्यों से हुआ। उस प्राचीन युग में तमिल लोगों का अपना साम्राज्य रहा और वह श्रीलंका तक फैला था। चेर, चोल, पाण्ड्य राजाओं के शासन का वह काल था। द्राविड़ सभ्यता और संस्कृति विकसित अवस्था में रही। मगर रामायण में उसकी चर्चा नहीं पायी जाती है। कारण यह हो सकता है कि वाल्मीकि की दृष्टि में वह जानकारी कम रही होगी।

ई. पूर्व पांचवीं शताब्दी के दक्षिण भारत का, महाभारत के माध्यम से जो चित्र मिलता है वह रामायण के माध्यम से अत्यल्प प्राप्त चित्र से बिलकुल भिन्न है। विकसित एवं प्रगतिशील सभ्यता को प्राप्त दक्षिण भारतीयों का चित्र महाभारत में हमें प्राप्त होता है। दक्षिण भारत के राज्यों का उल्लेख महाभारत में मिलता है। 1. आदि पर्व में द्रोपदी स्वयंवर में गये राजाओं में पाण्ड्य राजा भी था। 2. सहदेव राजसूय यज्ञ के प्रारंभ करने के पूर्व दक्षिण भारत की यात्रा होने पर आया था। 3. महाभारत के सभा-पर्व में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि पाण्ड्य तथा चोल राजा स्वर्णकलश में चंदन का तेल, चंदन की लकड़ियां, स्वर्ण आभरणों एवं महीन कपड़ों को अपने साथ लेकर आये थे। उपर्युक्त सूचनायें तमिलों की औद्योगिक तथा वाणिज्य समृद्धि के लिए प्रमाण स्वरूप हैं। 4. भारत के अन्य भागों से तमिल शासकों का सीधा संपर्क रहा। सभा पर्व में कलिंग, आंध्र, द्राविड़ों का उल्लेख प्राप्त होता है। 5. दक्षिण भारत का विदर्भ राज्य कई बातों में आगे रहा। विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति और आर्थिक संपन्नता प्राप्त यह प्रदेश था। 6. दक्षिण भारत को आर्यों के आधिक्य के अधीन लाने में अग्रणी महर्षि अगस्त्य ने विदर्भ राज्य की राजकुमारी लोपामुद्रा से विवाह किया था। 7. दमयन्ती स्वयंवर उस युग में विदर्भ राज्य की महत्ता और कीर्ति को बढ़ानेवाला रहा।

ई. पू. तीसरी शताब्दी के रामायण में चित्रित दक्षिण भारत तथा ई. पू. पांचवीं शताब्दी में महाभारत में चित्रित दक्षिण भारत में अधिक भेद नहीं पाया जाता। परवर्ती महाभारत काव्य में दक्षिण भारत के शासकों, यहां के समाज का विवरण कुछ अधिक ही प्राप्त होता है। तब तक भारत के अन्य प्रदेशों में दक्षिण भारत की जानकारी में वृद्धि पायी गयी। उस युग के दक्षिण भारतीय राज्यों के नाम इस प्रकार हैं विदर्भ, रिचिका, महिषका, कलिंग, आंध्र, चोल, पाण्ड्य, केरल आदि। पाण्ड्य राज्य की राजधानी कपाट्पुरम् का उल्लेख प्राप्त होता है। कपाटपुरम् सुंदर स्वर्ण प्रदेश माना गया। आभूषणों से सारा नगर सुशोभित था। चेर राज्य के बंदरगाह मुसिरि का नाम प्राप्त होता है। चोल राज्य के पुकार के निकट के स्वतारण्यम् का उल्लेख प्राप्त है। इंडियन एंटिकोरि भाग-8 में थामस फल्क्स इस प्रकार लिखते हैं। दक्षिण भारत के बारे में वाल्मीकि का वर्णन केवल काल्पनिक नहीं है। दक्षिण भारत के संबंध में जो वास्तविक स्थिति थी उसकी जानकारी उन्हें थी। रामजी जब दण्डकारण्य के वनान्तर प्रदेश में घूम रहे थे, दक्षिण भारत में विदर्भ जैसे अन्य राज्य भी थे। सीताजी की खोज करने का उत्तरदायित्व दक्षिण भारत के दूतों को दिया गया था। ये सारे विवरण दक्षिण भारत के राज्यों की प्राचीन गरिमा को स्पष्ट करने वाले हैं। थामस फल्क्स के उपर्युक्त विवरण भविष्य के शोधकर्ताओं की सम्मति को प्राप्त कर सकते हैं। इण्डोआर्यों के संबंध के ये दोनों इतिहास ग्रंथों के बारे में और गहराई से शोध करने की आवश्यकता है।

दक्षिण भारत के प्राचीन इतिहास के बारे में शोध करने के इच्छुक भावी इतिहासकार को आर्यों के इतिहास पर विश्वास करने की अपेक्षा द्रविड़ लोगों के पुरातत्व, सिक्के, पुरानी लिपि, साहित्य, भाषा विज्ञान, परंपराओं आदि पर विश्वास करना ही सही होगा। दक्षिण भारत की द्रविड़ सभ्यता पूर्णरुपेण आर्य सभ्यता की है यह विचार स्वीकार करने योग्य विचार नहीं है। तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़ ये चार भाषायें आर्य-भाषा संस्कृत से पूर्ण रूप से भिन्न हैं। दक्षिण की चारों भाषायें आपस में एक दूसरे से घनिष्ठ संबंध रखनेवाली सगोत्रीय भाषायें हैं। ये संस्कृत आदि आर्य भाषाओं से पूरी तरह से भिन्न हैं। ये चारों भाषायें दूसरी किसी मूल भाषा 'प्रोटो द्रविडियन्' से निकली भाषायें हैं। दक्षिण भारत की तमिल, तेलुगु आदि भाषायें एक सीमा तक यद्यपि संस्कृत शब्दों को स्वीकार कर चुकी हैं तथापि उन भाषाओं का शब्द समूह, उनकी प्रकृति एवं स्वभाव आर्य-भाषा संस्कृत से बहुत अंश तक भिन्न हैं। (Vide: Muir's Sanskrit texts Part II तथा Bishop Caldwell's Comparative Grammar of the Dravidian Languages-P. 42)।

यह बात दूसरी है कि दक्षिणी भाषाओं के संस्कार में संस्कृत भाषा ने अपना योगदान दिया है। (A grammar of the Teloogo language by A.D. Campbell : P. 2)। लेकिन यह कहना कि दक्षिण भाषायें संस्कृत भाषा के कारण ही जीवन-प्राण प्राप्त कर चलती है, यह अमान्य है। द्रविड़ भाषा के सर्वनाम, संख्यावाचक शब्द, क्रिया के विभिन्न रूप और प्रकार आदि संस्कृत भाषा से बिल्कुल

ही स्वतंत्र रूप प्राप्त संपन्न भाषा के हैं। (Wilson's catalogue of the Mackenzie Collection: P. 19) तमिल भाषा की लिपि भी उसकी अपनी है। 'शेन्तमिल' नामक पुराकालीन ऊंची शैली की तमिल भाषा बिल्कुल ही संस्कृत शब्दों तथा उसकी परंपरा से भिन्न है। तमिल भाषा की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक कृति 'तिरुक्कुरल' अपनी संरचना एवं व्यवहार की दृष्टि से संस्कृत पर न आधारित एक मूल तमिल रचना है।

डॉक्टर बरनल (Dr. Burnell) का विचार यहां उद्धृत करने योग्य हैः पुराकाल में **व्याकरण का विज्ञान** दक्षिण भारत से ही अपना रूप लेता है। वह संस्कृत से निकला विज्ञान नहीं है। इसे भगवान की देन माना जाता है। वह पूर्ण रूप से तमिल मिट्टी की उपज है। 'प्रोफसर जूलियन विन्सन (Prof. Julian Vinson) कहते हैं' यद्यपि शब्दों की दृष्टि से तमिल और संस्कृत में कुछ-कुछ समानतायें प्राप्त हैं, फिर भी वे एक दूसरे से संबंधित नहीं हैं। दोनों का व्याकरणिक गठन बहुत अंशों से भिन्न है। (The Siddhanta Dipika Vol. 5, P. 31)। 1. तमिल व्याकरण में तिणै, संख्या आदि लिंग नामक एक ही शीर्षक के अंतर्गत दिखाये गये हैं। यह तमिल व्याकरण की अपनी विशेषता है। 2. भूतकाल, वर्तमानकाल एवं भविष्यत्काल इन्हें अलग-अलग प्रकट करनेवाले रूप हैं। ये विशेषतायें दूसरी भाषाओं में अप्राप्त हैं। 3. 'तिणै' संस्कृत भाषा में शब्द पर आधारित है। लेकिन तमिल में 'तिणै' अर्थ पर आधारित है। उदाहरण के लिए 'हाथ' शब्द के लिए प्रयुक्त संस्कृत शब्द 'करम्' संस्कृत में पुलिंग शब्द है। पत्नी के लिए प्रयुक्त शब्द 'दारा' संस्कृत में पुलिंग है तथा 'कळत्रम्' शब्द नपुंसक लिंग है। 4. 'तोलकाप्पियम्' लक्षण ग्रंथ के 'पोरुलधिकारम्' (अर्थ प्रकरण) केवल तमिल भाषा में प्राप्त अहम्-पुरम् की चर्चा करता है। 5. तमिल छंद शास्त्र में 'वेण्बा' छंद तमिल भाषा का अपना छंद है। 'वेण्बा' का छंदविधान दूसरी भाषा में प्राप्त नहीं है। तमिल भाषा का व्याकरण शास्त्र ई. पू. की अनेक शताब्दियों पूर्व ही व्यवस्थित रूप से रचा गया व्याकरण शास्त्र है।

तमिल की अपनी संगीत-पद्धति रही है। नाप-तोल के लिए प्रयुक्त तमिल शब्द बिल्कुल ही तमिल भाषा के अपने ही शब्द हैं। डॉ. स्लेटर के मतानुसार तमिल भाषा की विशेषतायें, उसकी सूक्ष्मता, तर्क-क्षमता, शब्द समृद्धि आदि स्पष्ट हैं। यह सच है कि तमिल भाषा संस्कृत के संपर्क में आने की वजह से शब्द भंडार की दृष्टि से समृद्ध हुई (The Sanskritic element in the vocabularies of the Dravidian languages - S. Anavrata Vinayakam Pillai P. 1 introcutions)। द्रविड़ भाषाओं ने संस्कृत भाषा से शब्दों को उधार लिया यह कहने की अपेक्षा, यह कहना अधिक सही होगा कि आधिक्य मनोभाव से ग्रस्त आर्य लोगों ने संस्कृत शब्दों को द्रविड़ भाषा के शब्द भण्डार में प्रवेश दिया। द्रविड़ भाषाओं तथा संस्कृत के बीच के संपर्क के कारण दोनों भाषाओं के मध्य आदान-प्रदान का कार्य होता रहा।

दक्षिण भारत में रहने वाले आद्यद्रविड़ों की भाषायें उच्च स्तर पर विकसित सुसंस्कृत भाषायें थीं। अतः संस्कृत भाषा में द्रविड़भाषा के शब्द स्थान पा चुके हों तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। (A study of Sanskrit Language by T. Burrow: last capter " The Loan-words form Dravidian language" P. 378)। इण्डो यूरोपीय भाषा परिवार की लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओं में इस प्रकार की स्थिति नहीं है। केवल संस्कृत में ही यह स्थिति है। इसका कारण द्राविड़ों के साथ आर्यों का संपर्क ही है। आर्यों से पूर्व सारे भारत में द्राविड़ भाषायें व्याप्त थीं। द्रविड़ भाषा के अनेक बीज शब्द संस्कृत भाषा में स्थान पा चुके हैं। डॉक्टर गुण्डर्ट का कहना है कि संस्कृत की अपेक्षा द्रविड़ भाषायें अति प्राचीन हैं। (The Manual of the administration of the Madras Presidency P. 42 and page 112-113)।

सामाजिक-राजनीतिक परिवेश :-

प्रागैतिहासिक काल (पूर्व से ई. पूर्व 1000 तक) के दक्षिण भारत की सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं के बारे में जानने के लिए ऋग्वेद के सूक्त भी सहायक हैं। ऋग्वेद में कई प्रमाण द्राविड़ों के बारे में सामान्यतः उल्लिखित हैं। अर्ध ऐतिहासिक काल (ई. पूर्व 1000 से 100 तक) के विवरणों पर हीवट Hewitt जैसे विद्वानों ने शोध किया है। इस काल खण्ड में जो संस्थायें थीं वे

तोलकाप्पियम् ग्रंथ (ई. पूर्व आठवीं शती) में संग्रहीत हैं। इण्डो-आर्य इतिहास-ग्रंथ रामायण, महाभारत तथा असीरिया, बेबिलोनिया, फारस, रोम आदि के साथ दक्षिण भारत का संपर्क, श्रीलंका से संबंधित बौद्धों के ऐतिहासिक विवरण, मेगस्थनीज द्वारा दक्षिण भारत के बारे में लिखा विवरण, अशोक के शिलालेख, हालास्य महात्म्यम् जैसे अनेक ग्रंथ दक्षिण भारतीय लोगों के राजनीतिक, सामाजिक इतिहास को एक सीमा तक चित्रित करते हैं। तीसरा संगम काल अर्थात् ऐतिहासिक युग (ई.पू.100 से 400 ईस्वी) के लिए तिरुक्कुरल, अहनानूरु, पुरनानूरु, शिलप्पदिकारम्, मणिमेखलै, कलित्तोकै, पत्तुप्पाट्टु आदि काव्य ग्रंथ आधार हैं। विद्वानों के मतानुसार ये सारे ग्रंथ ईसा की प्रथम शताब्दी के हैं।

तमिल इतिहास के लिए 'तोलकाप्पियम्' ग्रंथ महत्वपूर्ण स्रोत है। 'प्राचीन तमिल प्रदेश और आर्य' नामक ग्रंथ के लेखक पंडित आर. एस. वेदाचलम के अनुसार ई. पूर्व 1250 का काल तोलकाप्पियम का काल रहा होगा। कुछ विद्वान मानते हैं कि तोलकाप्पियम् का हर खण्ड संस्कृत पर आश्रित न होकर स्वतंत्र रूप से लिखा गया है। उनके मतानुसार तोलकाप्पियम पर संस्कृत का कोई प्रभाव नहीं है। मगर यह विचार पूरी तरह स्वीकार करने योग्य नहीं हैं, कारण यह है कि तोलकाप्पियर आर्यों की विवाह-पद्धति की चर्चा अपने इस ग्रंथ में करते हैं। आर्यों की विवाह पद्धति तथा तमिलों की विवाह-पद्धति के बीच के भेद की ओर भी संकेत करते हैं। अतः तोलकाप्पियम् आर्य-द्राविड़ संस्थाओं के मिश्रण की ओर संकेत करता है। (Dravidic Studies No. III P. 111, M. S. Anavrata Vinayakam Pillai)। उत्तर से आये आर्यों के प्रभाव को तोलकाप्पियम स्पष्टतः संकेतित करता है। अतः आर्यों के दक्षिण आगमन के बाद अपनी आदतों, परंपराओं को यहां परिचित कराते समय तोलकाप्पियम् लिखा गया होगा। दक्षिण में ई. पूर्व दसवीं शताब्दी में ही आर्यों का प्रभाव प्रारंभ हो चुका था। अतः यह ठीक लगता है कि ऊपरि उल्लिखित आर्यों के प्रभाव के पश्चात ही तोलकाप्पियम् लिखा गया होगा।

तोलकाप्पियम् ग्रंथ में तमिल समाज का चित्रण एक सीमा तक हुआ है। यहां का पुराकालीन समाज भिन्न-भिन्न कुनबों में बंटा हुआ था। अलग-अलग कुलदेवता, कुनबे का मुखिया आदि थे। यहां के विभिन्न भूमिखंडों को विभिन्न नामों से जाना जाता था तथा वहां के निवासी अलग-अलग कर्म करते थे एवं उनमें सांस्कृतिक भिन्नता थी। किसान तथा पुरातन लोग मरुतम् भूखण्ड के निवासी थे। पहाड़ों में बसे लोग कुरिंजि भूखण्ड के माने जाते थे। भेड़, बकरी, गाय, भैसों के पालन पर जीवित रहने वाले आयरकुल के लोग मुल्लै प्रदेश के निवासी थे। समुद्र में मछली पकड़कर उस पर जीवित रहनेवालों को नेय्तल निवासी तथा शिकारी लोगों को पालै भूखण्ड के निवासी मानते थे। कुरवन् जाति के मुखिया को सिलंबन कहते थे और उनकी बस्ती को सिरुकुडि कहते थे। मुल्लै भूखण्ड के निवासी जंगल तथा उससे सटे भूखण्ड में बसे हुए थे। उनके गांव को चेरी या पाडि कहा जाता था। वहां के लोगों को आयर् या इडैयर् कहते थे। समुद्रतटवर्ती लोग मछुआरे थे। उनकी बस्ती को पट्टिणम् या पाक्कम् कहते थे। नेय्तल भूखण्ड के निवासी 'मरवर्' के नाम से जाने जाते थे। पालै भूखण्ड के लोग 'वेडर्' (शिकारी) कहाते थे, वे बनजारे थे। शिकार खेलना, अगल बगल के गांवों को लूटना उनका काम था। मुल्लै भूखण्ड के निवासी 'मायोन्' नामक देवता की उपासना करते थे। कुरिंजि प्रदेश के लोग 'सेयोन्' की पूजा करते थे। मरुतम् भूखण्ड के निवासी इन्द्र की पूजा करते थे। नय्तल निवासी वरुण देवता की पूजा करते थे। पालै भूखण्ड के लोग 'कोट्रवै' की पूजा करते थे। इस प्रकार विभिन्न नाम्नी पांच भूखण्डों में लोग यहां सदियों पूर्व रहा करते थे। तोलकाप्पियर काल से लेकर आज तक वे अपनी आदतों और आचार-विचार का पालन करते आ रहे हैं। तोलकाप्पियम् में राजा, ब्राह्मण, वणिक और कृषक, इस प्रकार चार वर्ग के लोगों का उल्लेख प्राप्त है। साथ ही उनके कर्तव्यों को विस्तार से समझाया गया है (तोल पोरुल्: 75)। तोलकाप्पियर के काल में 'वेळाळर' (कृषक वर्ग) का वर्चस्व था। उनके पास साधन संपत्ति होती थी। आर्यों का वर्णभेद उस समय यहां नहीं था। कहीं भी शूद्र शब्द का उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

पुराकालीन तमिलों के जीवन में प्रेम को महत्व

प्राप्त था। प्रेम दो प्रकार का माना जाता था। 'कळवु' और 'कर्पु' है। 'कळवु' गुप्तप्रेम (विवाह पूर्व का) माना जाता है। तमिल परंपरा गुप्त प्रेम को विवाह में परिणत होना आवश्यक मानती है। वैवाहिक जीवन को 'कर्पु' कहते थे। तमिलों के इस वैवाहिक जीवन की आर्यों के विवाह से तुलना की जा सकती है। (Christian College Magazine Qly series vol.III No.2 P. 95 : M. R. Rangachari's article)। एक दूसरे को जानने-पहचानने, अपने जीवन साथी को चुनने का 'कळवु' अवसर प्रदान करता है। तत्पश्चात माता-पिता की अनुमति से उन दोनों का विवाह संपन्न होता है। पुरुषों के लिए विवाह-योग्य उम्र 16 और स्त्रियों के लिए उम्र 12 तय थी। अनेक स्त्रियों से विवाह करना, वेश्यागमन आदि भी तमिल समाज में थी। दासता की प्रथा तमिल प्रदेश में नहीं थी। युद्ध क्षेत्र में जाते समय पत्नी को साथ ले जाना मना था। प्रस्तर खण्ड से कला कृतियों के निर्माण करने में तमिल लोग दक्ष और कुशल थे। मृत वीरों की स्मृति में 'नडुकल' स्मृति स्तम्भ गाड़ने की प्रथा प्रचलित थी। यह पुराकालीन प्रथा मानी जाती है। राजमहल, किले, बुर्ज आदि प्रस्तर खण्डों से निर्मित थे। दुर्भाग्यवश आज उनका कोई चिह्न हमारे पास उपलब्ध नहीं, सब नष्ट हो चुके, मिट चुके हैं।

समाज मुख्यतः पुरुषसत्तात्मक था। युद्ध वीरों के पास तीर, कमान, कटार, धनुष, बाण, तलवार, भाले, बरछे आदि होते थे। सेना का नायक युद्ध क्षेत्र के लिए प्रस्थान करते समय युद्ध का मुरशु (नगारा) बजाता था। सैनिक लोग अपनी-अपनी टोली के लिए अगल-अलग झुण्डों को लेकर चलते थे। युद्धवीरों के केश बड़े लंबे होते थे। उन पर फूलों का गजरा पहनते थे। पैरों में 'वीरक्कळल' (कंडा) पहनते थे। युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय वे बज उठते थे। युद्ध करने के पूर्व शत्रु पक्ष के मवेशियों को लूट लाते थे। काव्यों में इसका विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इस कार्य को वे लोग 'वेट्चि' कहते थे। गाय, बैल आदि जानवरों को लूटकर अपने गांव ले आना एक प्रथा थी। विजय पाने के बाद उसकी खुशी में मदिरापान करने की प्रथा थी। ये युद्ध न केवल छोटे-छोटे राजा, रजवाड़ों के बीच होते थे, बल्कि बड़े-बड़े शासक जैसे चेर, चोळ, पाण्ड्य राजाओं के बीच भी होता था। तोलकाप्पियम ने उक्त तीनों शासकों की ओर संकेत नहीं किया है, अतः कहा जाता है कि चेर, चोळ, पाण्ड्य इन तीनों राजाओं के काल के पूर्व ही तोलकाप्पियम रचा गया होगा। द्राविड़ समुदाय की मुख्य संपत्ति गाय, बैल, भैंसें आदि ही थीं।

उस युग में राज्य और शासन की संस्था निर्मित नहीं हुई थी। वस्तुतः तोलकाप्पियम ग्रंथ शासन-व्यवस्था एवं राजाओं के इतिहास के बारे में बताने के लिए नहीं लिखा गया। वह तो मूल रूप से काव्य-शास्त्र का आकर ग्रंथ है। जबकि **रामायण, महाभारत, अशोक के शिलालेख, सिंहल द्वीप की परंपरायें, पेरिप्लूस नामक ग्रंथ, टालिमी का भूगोल, कालिदास रचित रघुवंश आदि इस ओर संकेत करते हैं कि तमिल प्रदेश में राजा का शासन एवं राज्यों का निर्माण हो चुका था। 'हालास्य महात्म्यम्'** नामक संस्कृत ग्रंथ सुन्दरेश्वर नामक पाण्ड्य राजा के पराक्रम और वीरता के बारे में बताता है। ई. पू. पांचवीं शताब्दी के पूर्व ही पाण्ड्य शासकों की परंपरा प्रचलित हो गयी थी। चोळ राजाओं का पुराना इतिहास भी पाण्ड्य राजाओं के समकाल से ही शुरू होता है। इसी प्रकार चेर राजाओं का भी रहा है। चोळवंश के राजाओं की भांति ही चेरवंश के शासक भी प्राचीन ही थे।

कपाटपुरम् पाण्ड्य राजाओं की राजधानी रही। (Tamilian Antiquary No.7 Mu. Raghava Iyengar's article on Valmiki and South India)। वह नगर सुवर्ण मंडित था, मोतियों से अलंकृत था। पाण्ड्य राजाओं के राजगुरु ऋषि अगस्त्य ने ही पाण्ड्य राजा का राज्याभिषेक किया। (Indian Antiquary Vol. 1876 P. 89)। 'इण्डिका' नामक ग्रंथ के लेखक यूनानी यात्री मेगस्थनीज़ का विवरण इस प्रकार है : 'पाण्ड्य राज्य पर पण्डेया नामक रानी शासन करती थी। उस रानी के पास 500 हाथी, 4000 बलिष्ठ एवं शक्तिशाली पैदल सैनिक तथा एक लाख तीस हजार युद्धवीर (मरवर्) रहे। (Indian Antiquary Vol. 1876 P 272 and Girnar Inscriptions of Ashoka)। उत्तर भारत के चक्रवर्ती राजा अशोक के धार्मिक प्रभाव के फलस्वरूप चेर, चोल, पाण्ड्य, सत्यपुत्र, केरल-पुत्र राज्यों में कुछ

परिवर्तन हुए। विशेष रूप से रोगग्रस्त व्यक्तियों, गाय-बैलों की रक्षा की जिम्मेदारी पुराकालीन राजाओं के अधीन आयी। मानवों और जानवरों के उपयोग के निमित्त सड़कों के किनारे दवा के पौधे और अन्य पेड़ लगवाये गये। जगह-जगह पर कुएं खुदवाये गये और पीने के पानी की अच्छी व्यवस्था की गयी। 'गिरनारएडिक' नामक स्थल पर प्राप्त शिलालेख से पता चलता है कि उक्त जनहित के कार्यों के लिए अशोक ही कारण थे। **मेगस्थनीज** आगे लिखते हैं : पाण्डेया, हीरोक्लीज नामक राजा की बेटी थी। समुद्र तटवर्ती प्रदेशों को पिता ने पुत्री के शासन के अधीन दान में दिया था। उसे रानी बनाकर शासन की जिम्मेदारी उसके हाथ में सौंपी। 1365 छोटे-छोटे गांव और नगर पाण्डियों के शासन के अधीन हुए। पाण्ड्य राजाओं से प्राप्त उपहार मोती के प्रति रोम और यूनानी लोगों का विशेष आकर्षण रहा। पाण्ड्य राजा स्वयं भी कवि था। अपने राज्यों में कवियों को सम्मान प्रदान करता था। पाण्ड्य प्रदेश में तमिल संगम हुये। इससे स्पष्ट होता है कि ईसा के पूर्व तथा ईसा के बाद भी पाण्ड्य राजाओं के नेतृत्व और प्रोत्साहन में तमिल संगम क्रियाशील रहे। तमिल संगम के माध्यम से शिक्षा के प्रति रुचि और लगन तथा संस्कृति में उत्साह और उमंग पैदा होने लगी। उपलब्ध अस्पष्ट विवरणों के आधार पर दक्षिण भारत में रहे पुराने राज्यों के संबंध में हम पूरी तरह से समझा नहीं पाते।

ईसा के बाद की शताब्दियों की राजनीतिक संस्थाओं का विकास उल्लेखनीय है। उस युग में रचे गये तमिल साहित्यिक ग्रंथों के आधार पर पुराने काल की राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था, तमिल राज्य, समाज का गठन, शासन की नीति, धार्मिक रूप, करवसूली की व्यवस्था आदि के बारे में जानकारी मिलती है। संगम कालीन साहित्य में कवियों द्वारा चित्रित राज्य का शासन और राजनीतिक व्यवस्था का वास्तविक चित्रण ही है। उस काल का शासन जनहित एवं लोककल्याण के प्रति उन्मुख तमिल शासकों की स्वस्थ मनोवृत्ति का रहा। नैतिक आचरण एवं उदार मनोवृत्ति से युक्त शासकों का वह युग था। राजा की सभा में कवियों का वर्चस्व बना रहा। राजाओं को वे मंत्रणा देने वाले प्रखर बुद्धिजीवी थे। अमात्य लोग राजा को सही मार्ग-दर्शन देते थे। राजा, प्रजा के विचारों के कायल थे।

संगमकालीन 'पत्तुप्पाट्टु' काव्य संकलन में 'पेरुम्पाण् आट्रुप्पडै' नामक काव्य, तोण्डैमण्डलम् के ब्राह्मणों की बस्ती का इस प्रकार से वर्णन करता है' : गाय-बछड़े थे। छोटे-छोटे पण्डाल बने हुए थे। गायों के गोबर से जमीन को लीपा गया था। उपासना का देवता वहां स्थापित था। वहां शूकर या कुक्कुड़ नहीं होते थे। कीर-तोतों को देवपाठ सिखाने के कारण वे वेदपाठ करते थे। वहां ब्राह्मणी गृहिणियां 'राजान्नम्' नामक उत्कृष्ट धान के चावल से सूर्योस्त के समय भोजन बनाती थीं। भात में कालीमिर्च की बुकनी मिलाकर व भाजी को उसमें मिलाकर तथा शुद्ध घी को उसमें घोलकर आम के साथ परोसेंगी।' (पेरुम् पाण् आट्रुप्पडै 298-310)। तब भी और अब भी ब्राह्मणों के घरों में गाय का होना अनिवार्य हैं। गाय से प्राप्त वस्तुयें वैदिक संस्कारों के लिए आवश्यक है। 'तिरुमुरुकाट्रुप्पडै'-काव्य संकलन में ब्राह्मणों के पुराकाल के जीवन का सजीव चित्रण प्राप्त है। वे अग्निहोत्री ब्राह्मण होते थे। मुरुगन् की उपासना करते समय स्नान कर गीले कपड़े में रहना होता। अपने दोनों हाथों को सिर के ऊपर उठाकर मुरुगन को नमन करने की प्रथा पायी जाती है। मुरुगन का स्तोत्र गीत गाने की परंपरा प्राप्त है।

ऋषि-मुनी लोग पवित्र याग-यज्ञ करते थे। इन मुनि पुंगवों का तमिल प्रदेश में बड़ा आदर सम्मान होता था। वैश्य लोग वाणिज्य-व्यापार में लगे हुए थे। उनेकानेक व्यापार सबके आकर्षण का विषय था। वे शुद्ध शाकाहारी लोग होते थे। ब्राह्मणों का आदर-सम्मान करते थे। भूखे लोगों को भोजन देते थे। वणिकवृत्ति अपनाने पर भी सत्य भाषण करते थे। वस्तुओं को खरीदते समय तथा बेचते समय अनुचित लाभ के इच्छुक नहीं थे। कृषक वर्ग के लोग खेतीबाड़ी के कामों में लगे हुए थे। ऊंचे कृषक वर्ग के लोगों द्वारा छोटे-छोटे क्षेत्रपालों का चयन होता था। समाज में आयर व आखेटक कृषक वर्ग का बाद के स्थान था। उनके बाद हस्तकौशल एवं दस्तकारी में लगे हुए कारीगर जैसे सुनार, बढ़ई, कुम्हार आदि का स्थान था। सबसे नीचे के स्तर पर पुलैयार नामक मछुआरे

और भंगी लोग थे। आर्यों की चातुरवर्ण्य की प्रथा अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का भेद-भाव तमिलनाडु में उस युग में नहीं रहा।

मदुरै नगर की सड़कों पर बलिष्ठ शरीर वाले म्लेच्छ तथा मरवर् जाति के लोग शराब पीते हुए सड़कों पर घूमते थे। सूर्यास्त के समय सुंदर गृहणियां दीपक जलाकर अपने इष्ट देवता की पूजा-प्रार्थना में लगी रहती थीं। पुष्पों से देवता की अर्चना करती थीं। वाद-विवाद करने का खुला मंच होता था। वहां तत्वज्ञान पर बुद्धिजीवियों के बीच वाद-विवाद चलता था। मुनियों और तपस्वियों के लिए अलग स्थान होते थे। वेलन् आट्टम्, वेरिआड़ल, महिलाओं का सामूहिक नृत्य-गान आदि धार्मिक उत्सव, संगीत का कार्यक्रम आदि जगह-जगह पर होता था। मनोरंजन के अनेक साधन उपलब्ध थे। नृत्य करनेवाली नारियों द्वारा नाटक भी खेले जाते थे। वे वाद्ययंत्रों को बजाते हुए नृत्य करती थीं। जगह-जगह पर धर्मशालायें निर्मित थीं। गरीबों को अन्नदान दिया जाता था। धर्मशालाओं और मठों में उन्हें भोजन दिया जाता था।

उस युग में ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य लोग मधुपान करते थे और मांसाहार करते थे। उनमें वेश्यावृत्ति भी प्रचलित थी। बड़े भोज के अवसरों पर मांसाहार की वस्तुओं का परोसा जाना आम बात थी। राजा से पुरस्कार प्राप्त कवियों को मार्गभर में विविध प्रकार के लोगों द्वारा बहुत स्वादिष्ट मांसाहारी भोजन दिया जाता था। परवर्ती युग में ही निरामिष भोजन और मांसाहार वर्जन की प्रथा प्रचलित हुई। शैव एवं श्रमण लोग ही संगम काल में निरामिष भोजन के अभ्यस्त थे।

कुछ घरों में बंदरों को भी बच्चों के समान पालते थे और वे बंदर भी घर के बच्चों के साथ खूब खेलते थे। माहूत लोग हाथी की परवरिश करते थे। घी में घोलकर चावल उन्हें खिलाया जाता था। जंगल में बड़े-बड़े गड्ढे खोदकर उन्हें पत्तों से ढककर रखते जिससे हाथी उन गड्ढों में धड़ाम से गिर पड़ता था तब उन्हें पकड़कर बांध लेते थे। आर्यों का हाथी पकड़ने का ढंग दूसरा था। वे हथिनी के द्वारा हाथी को पकड़कर उन्हें वश में करते थे। राजा जब बाहर निकलता था तो रानी उनके साथ नहीं जाती थी।

साहित्य :-

भारतीय जातियों में सिर्फ तमिल लोग ही संस्कृत पर निर्भर न रहकर स्वतंत्र रूप से अपना साहित्य सृजन करते थे। तमिल साहित्य की छन्द-व्यवस्था, उसके विधिविधान, कविता आदि संस्कृत से बिल्कुल भिन्न थी। तमिल भाषी अपनी प्राचीन छंद-अहवल, वेण्बा, कलिप्पा, वंजिप्पा आदि का आज भी पालन करते आ रहे हैं। संस्कृत भाषा के संपर्क में आने से पूर्व ही तमिल एक समृद्ध साहित्य को प्राप्त कर विकसित हो रही थी। (Tamilian Antiquary No. 5, P. 7)। ई. पूर्व आठवीं शताब्दी के महर्षि अगस्त्य द्वारा रचित 'अगत्तियम्' नामक लक्षण ग्रंथ सर्व प्राचीन लक्षण ग्रंथ माना जाता है। वह इयल, इसै, नाटकम् अर्थात् काव्य, संगीत और नाटक इन त्रिविध प्रकार के विधानों में विकसित हो रहा था। लगभग उसी समय तोलकाप्पियम् नामक एक उत्कृष्ट लक्षण ग्रंथ भी रचा गया था जो आज उपलब्ध सर्व प्राचीन लक्षण ग्रंथ है। तोलकाप्पियम् के पूर्व ही 'अगत्तियम्', 'मापुराणम्', 'भूत पुराणम्', 'इसै नुणुक्कम्', 'मुदुकुरु', 'मुदुनारै' आदि लक्षण ग्रंथ तमिल में रचे गये थे। ई. सन बारहवीं शताब्दी में रचे 'शिलप्पदिकारम्' महाकाव्य के टीकाकार अडियार्क्कु नल्लार अपने समय के पूर्व रचे गये एवं संप्रति अनुपलब्ध तथा कालकवलित हुए लक्षण ग्रंथों से कुछ अंशों को उद्धरण के रूप में अपनी टीका में देते हैं। अगस्त्य के दक्षिण आगमन के पूर्व ही तमिल भाषा एक समृद्ध एवं विकसित भाषा के रूप में विकसित थी। तमिल भाषा में प्राप्त अन्तःसाक्ष्य यह बताता है कि ऋषि अगस्त्य के दक्षिण आगमन के पूर्व ही तमिल श्रेष्ठ एवं उत्तम साहित्यिक ग्रंथों को प्राप्त कर चुकी थी, तभी तो वे तमिल साहित्य के त्रिविध वर्गीकरण करने में समर्थ हुए।

तमिल में रचित सर्वश्रेष्ठ एवं **शीर्षस्थ लक्षणग्रंथ का नाम है 'तोलकाप्पियम्' जो आज हमें उपलब्ध है।** कोई भी भाषा प्रोढ़ावस्था को प्राप्त कर उत्कृष्ट साहित्य का सृजन करने के उपरांत ही, अर्थात् उसमें लक्ष्यग्रंथों के रचे जाने के उपरांत ही लक्षण ग्रंथ लिखा जाना संभव हो सकेगा। ई.पू. आठवीं शताब्दी में रचित 'तोलकाप्पियम्' में स्थान प्राप्त उद्धरण इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि

तोलकाप्पियम् काल के बहुत पूर्व ही तमिल में अनेक साहित्यिक ग्रंथों एवं लक्षण ग्रंथों की रचना हो चुकी थी। 'ऐसा कहते हैं', 'पूर्वकाल के कवि कहते हैं' ऐसे अनेक उल्लेख तोलकाप्पियम् में प्राप्त हैं। (तोल पोरुळः 23, 40, 47)। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तोलकाप्पियम् की रचना से पूर्व ही अनगिनत लक्षण ग्रंथ तमिल में रचे जा चुके थे। ई. पूर्व 8वीं शती के प्राचीन ग्रंथ तोलकाप्पियम् का केंद्रीय विषय है प्राचीन तमिलनाडु का इतिहास, तमिल जाति का इतिहास, तमिलों की जीवन शैली, आचार-विचार चिंतन प्रक्रिया आदि। साथ ही यह ग्रंथ प्राचीन युगीन साहित्य, व्याकरण तथा जातीय जीवन को समझाने के आकर ग्रंथ के रूप में समादृत है। यह काव्य शास्त्र का भी आकर ग्रंथ माना जाता है।

त्रिविध संगम के बारे में यहां कहना उचित होगा। श्रेष्ठ विद्वानों तथा बुद्धिजीवियों की महासभा, काव्य की परंपरायें आदि संगम का जिक्र करती हैं। प्रथम संगम मदुरै में हुआ था जिसमें 549 विद्वान स्थान पा चुके थे। इस प्रथम संगम द्वारा रचित साहित्यिक ग्रंथों में से कुछ ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं: 'पेरुम् परिमाड़ल', 'मुदुकुरू', 'मुदुनारै', 'कळरिया विरै' आदि। यह संगम 89 पाण्ड्य राजाओं द्वारा पोषित था। प्रथम संगम काल में ही ऋषि अगस्त्य द्वारा रचित 'अगत्तियम्' है। दूसरे संगम में 59 विद्वान थे। उनमें अगस्त्य, तोलकाप्पियर, वेळळूर काप्पियनार, तुवरैक् कोमान् आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। 3,700 कवि एवं विद्वान साहित्यकारों से यह संगम सुशोभित रहा। इस दूसरे संगम-काल में ही अगत्तियम् एवं तोलकाप्पियम् जैसे लक्षण ग्रंथों की रचना हुई थी। इस काल में रचित कुछ अन्य ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं: मापुराणम्, इसै नुणुक्कम्, पेरुम् कलित्तोकै, कुरुकु, वेण्डलै। 59 पांड्य राजा इस संगम के पोषक थे। यह संगम कपाटपुरम् में स्थित था। 3750 वर्ष तक यह संगम क्रियाशील था। अंतिम तीसरे संगम में 49 कवि रहे जिन में उल्लेखनीय हैं पेरुम् कुन्ट्रूर किळार, नल्लन्दुवनार, नक्कीरर् आदि। तीसरे संगम में 449 कवि रहे। इस तृतीय संगमकाल में रचित कुछ ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं - 'नट्रिणै', 'कुरुम्तोकै', 'पुरनानूरू' आदि। 49 पाण्ड्य राजा इस तृतीय संगम के पोषक संवर्धक रहे। यह संगम मदुरै में रहा और 1850 वर्ष तक यह क्रियाशील रहा।

इन तीनों संगमों का काल बहुत दीर्घकाल रहा। प्रथम दो संगम में उल्लिखित कवियों की संख्या और उसके काल में अतिशयोक्ति है। इन संगमों में रचित साहित्यिक ग्रंथों का स्तर भी उन्नत था। तमिल में जो भी काव्य-रचना होती थी वे सब इन संगमों में 'अरंगेट्रम्' (प्रथमवाचन और लोकार्पण) होकर संगम में सम्मिलित कवियों द्वारा सम्मति तथा स्वीकृति पाकर बाहर प्रकट होती थीं। संगम कवियों के निर्णय के उपरांत कोई अपील नहीं हो सकती। संगम कवियों द्वारा अस्वीकृत होने पर अनेक कृतियां कालकवलित हो चुकी होंगी। तिरुवल्लुवर रचित 'तिरुक्कुरल' भी 'अरंगेट्रम' के बाद भी स्वीकृति नहीं प्राप्त कर सका। संगम कवियों ने तिरुवल्लुवर द्वारा रचित 'कुरळ' नामक छंद विधान को कविता के रूप में स्वीकृति नहीं दी। मदुरै मीनाक्षी मंदिर के अंदर स्थित पोट्रामरै नामक तालाब में स्थित पीठ द्वारा इसे स्वीकृत करने के उपरांत ही इस काव्य ग्रंथ को मान्यता प्राप्त हुई। यह एक पौराणिक कथा के रूप में आज भी तमिल समाज में प्रचलित है। तमिल संगम के संबंध में तमिल समाज में प्रचलित परंपरायें तमिल साहित्य की पुरातनता और प्राचीनता को स्थिर करती हैं।

एक अन्य महत्वपूर्ण काव्य ग्रंथ है **'शिलप्पदिकारम्'**। यह विश्वसाहित्य में अकेला स्थान पाने योग्य उत्कृष्ट काव्य ग्रंथ है। राजपरिवार का एक कवि, राजगद्दी तथा उसकी महानता को परित्याग कर एक प्रबंध-काव्य की रचना में संलग्न रहा। ऐसा प्रयास विश्व के किसी भी भाषा-साहित्य के इतिहास में प्राप्त नहीं है। इस महाकाव्य के माध्यम से तद्युगीन लोगों की जीवन-पद्धति, रीति-रिवाज, आचार-विचार, अनेक विध लोगों की प्रवृत्तियां, उस युग के उद्योग-धंधे, पतिव्रतानारी का इतिहास आदि का भव्य चित्रण प्राप्त होता है। इस काव्य कृति की धार्मिक पार्श्वभूमि, काव्य सौष्ठव आदि अतुलनीय है। दुखांत नाटक की रचना संस्कृत साहित्य की परंपरा के विरुद्ध मानी जाता है। लेकिन तमिल में रचित यह शिलप्पदिकारम् मध्यवर्ग से संबंधित दुखांत काव्य के रूप में रचित होने से हमें विस्मय विमुग्ध कर देता है। संस्कृत काव्य में उल्लिखित परंपराओं की यह उपेक्षा कर देता है। प्राचीन

यूनानी दुखांत नाटकों में प्राप्त ट्रेजिक संवेदना की गहराई को हम इसमें प्राप्त कर सकते हैं। यह प्राचीन युगीन सामाजिक साहित्य परंपरा में प्राप्त एक प्रेरक काव्य ग्रंथ है। संस्कृत काव्य-नाटक सिद्धांतों से बिल्कुल भिन्न एवं मौलिक प्रबंध काव्य है। तमिल साहित्य का यह गौरव ग्रंथ माना जाता है। शिलप्पदिकारम् तथा उसके बाद रचित **मणिमेखलै** नामक दोनों काव्यों में उल्लिखित कथा तमिल समाज की अपनी मूलकथा है। इन दोनों काव्यों के रचयिता कवि शुद्ध तमिल भाषी कवि हैं। काव्य सौष्ठव, चिंतन की श्रेष्ठता, रूपकों का विधान, वैचारिक गरिमा, कल्पना की ऊर्वरता, मानवों के संबंध में विचार, जीवन की वास्तविकता के संबंध में कवि की विवेचना आदि की दृष्टि से ये दोनों काव्य अप्रतिम हैं।

वीर रस प्रधान **'पदिट्रुप्पत्तु'** सुंदर कल्पनाओं ये युक्त 'अहनानूरू', 'पुरनानुरू', 'कलित्तोकै', 'पत्तुप्पाट्टु' आदि मुक्तक कविताओं का' आदि संगम युगीन काव्य संकलन विश्वसाहित्य में द्राविड़ों की गौरवगरिमा को सिद्ध करनेवाला सुंदर काव्य ग्रंथ है। इरैयनार कळवियल नामक काव्य ग्रंथ के लिए टीका लिखनेवाले टीकाकार नक्कीरर् का अद्‌भुत वर्णनात्मक टीका-क्षमता से युक्त कवि की रचना है। तमिलवेद के रूप में समादृत **तिरुक्कुरळ** नामक नीतिग्रंथ तमिल साहित्यकारों की अप्रतिम रचना है। मानव चिंतन की ऊंचाई, और उसकी मेधा की पराकाष्ठा इस ग्रंथ की विशेषता है। विशुद्ध मानवीय चिंतन और जीवन दर्शन से युक्त इस ग्रंथ का भारतीय साहित्य में अप्रतिम स्थान है। इसके रचयिता कवि तिरुवल्लुवर साहित्य जगत में अमर स्थान प्राप्त कवि हैं और वे तीसरे संगमकाल के कवि माने जाते हैं। संसार के सभी मानवों के लिए उपयुक्त समान्य एवं संगत नीति की बातों को जाति, धर्म, रंग, राजनीति आदि से परे होकर सारगर्भित एवं सूत्रशैली में उन्होंने समझाया है। तिरुक्कुरळ धर्म में ईश्वरत्व, गार्हस्थ्य जीवन तथा सन्यासाश्रम दोनों के लिए उपयुक्त आदर्श एवं उदात्त विचारों को तथा मानवीय संवेदनाओं को प्रेरित करने के रूप में रचा गया है। यह तमिल साहित्य के काव्य जगत में तथा नीति ग्रंथों के संसार में बड़ी ख्याति-प्राप्त ग्रंथ है। तिरुक्कुरळ की विशाल-विस्तृत जीवन दृष्टि, मानवों के हृदयों से उसकी द्रवित करनेवाला हृदयसंवादी प्रवृत्ति आदि विश्व के सभी मानवों को आकर्पित करनेवाली है। उनकी यह दृष्टि मध्ययुगीन समाज सुधारक कवि कबीर से पूर्ववर्ती है। अमुक धर्मावलंबियों अथवा अमुक जाति के लोगों के लिए न लिखकर समस्त एवं संपूर्ण मानव जाति के हित के निमित्त उन्होंने इस कुरल की रचना की है। इसी वहज से तिरुक्कुरळ तमिलों का कंठहार बना हुआ है। लगभग 2000 वर्ष पूर्व रचित इस ग्रंथ को आज भी तमिल लोग गौरव ग्रंथ के रूप में मानकर उसकी प्रशंसा करते नहीं अघाते।

धार्मिकता :–

तमिलों के साहित्य में उनके धार्मिक इतिहास की दशा को स्पष्ट समझाने के अंतःसाक्ष्य एवं प्रमाण उपलब्ध होते हैं। उसमें संस्कृत के प्रभाव का भी स्पष्ट संकेत प्राप्त है। डॉ. जी. यू. पोप के अनुसार तमिलों की अपनी प्रकृति और स्वभाव के अनुरूप इसमें नीति के तत्त्व प्राप्त हैं। तमिल साहित्य का विश्लेषण-विवेचन करने पर यह बात स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है कि धार्मिक क्षेत्र में तमिलों का अपना उन्नत स्थान रहा है। प्रोफेसर शेषगिरि शास्त्रीजी के मतानुसार 'हिन्दूधर्म का प्रारंभिक काल वेद, स्मृति, आगम शास्त्रों के अनुसार ही निर्मित हुआ है। इस धर्म के परवर्ती अंशों में तमिल साहित्य में स्थान प्राप्त आदतें, विश्वास, धार्मिक विचार आदि स्थान पा चुके हैं'।

वैदिक देवताओं के नामों के बीज शब्द बताते हैं कि वे द्रविड़ मूल के शब्द हैं। वरुण देवता आज आर्य देवता माना जाता है। जबकि समुद्र तटवर्ती प्रदेश का द्राविड़ों के पुराकालीन देवता ही वरुण देवता है। आर्य ऋषिगण अपने देवताओं की सूची में द्रविड़ देवता वरुण को भी जोड़ चुके थे। रुद्रदेवता मूल रूप में आद्यद्राविड़ देवता है। रुद्र पहाड़ी देवता है। पुराकालीन पहाड़ी लोगों का वह देवता है। रुद्र शब्द का अर्थ है लाल रंग। तमिल में लालरंग को 'शिवप्पु' कहते हैं। शिवप्पुअअण (तमिल प्रत्यय पुरुष के लिए) शिवप्पनउशिवन् हो गया। शिवजी पुराकालीन तमिलों के उपास्य देवता हैं।'कोट्रवै' विजय की स्त्री-देवता है। पुराकालीन तमिल लोग कोट्रवै की उपासना करते थे। वह काली के रूप में पूजी जाती है, दक्षिण भारत के छोट-छोटे गांवों में उसकी उपासना आज भी होती आ रही है। दक्षिण भारत के पर्वत प्रदेशीय देवता

का नाम 'मुरुगन्' है। इस शब्द का अर्थ है सौंदर्य, सुन्दरता। वह कोट्रवै का पुत्र माना जाता है। मरुतम् भूभाग का देवता 'इन्दिरन्' है जिसका उल्लेख प्राचीन तमिल लक्षण ग्रंथ तोलकाप्पियम् में प्राप्त होता है। मुल्लै भूप्रदेश के अधिदेवता का नाम 'तिसमाल' है, वही वैदिक धर्म में विष्णु बन गया। आर्यों के दक्षिण भारत में पदार्पण के पूर्व ही द्राविड़ों के पहाड़ी लोगों में शिवोपासना तथा मुरुगोपासना दोनों शैवधर्म पर आश्रित होकर पनप रही थी। डॉ. स्लेटर के मतानुसार 'काळी', शिव, विष्णु आदि देवता मूल रूप में द्रविड़ देवता ही थे।

सर चार्ल्स इलियट अपने ग्रंथ 'भारत वासियों का धर्म' में विचार व्यक्त करते हैं- आर्यों का धर्म परवर्ती युग में द्राविड़ों की सभ्यता के संपर्क में आने के उपरांत अनेक परिवर्तनों से होकर गुजरा। वैदिक आर्यों का साहित्य बहुत प्राचीन है और उसकी समानता का द्राविड़ों से संबंधित विवरण हमें उपलब्ध नहीं होते हैं। आज हमें उपलब्ध ज्ञान और विवरण एकपक्षीय हैं। **भारतीय धर्म को द्राविड़ धर्म के रूप में व्याख्या करना ही सही लगता है। हिन्दू धर्म के बड़े-बड़े देवता जैसे शिव, कृष्ण, राम, दुर्गा तथा इन देवताओं से संबंधित अवतार-सिद्धांत आदि को वेदों में कहीं भी स्थान प्राप्त नहीं है।** प्रागैतिहासिक काल में द्राविड़ लोग कोट्रवै, मुरुगन, वरुण आदि अनेक देवताओं की उपासना करते थे। उसी समय सबसे श्रेष्ठ एक ईश्वर के प्रति विश्वास भी उनमें पनप रहा था।

डॉ. जी. यू. पोप के मतानुसार प्रागैतिहासिक काल के द्रविड़ों का धर्म एक प्रकार से शैव धर्म एवं शिवोपासना ही माना जा सकता है। विद्वान ह्वीलर के मतानुसार शिवजी भय उत्पन्न करनेवाला देवता ही रहा। उसका संबंध जन्म और मरण से माना जाता था। राकोसिंह मानते हैं कि **शिवोपासना पूर्णतः द्राविड़ों से संबंधित है।** 'पेड़, सर्प की उपासना' नामक अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में फेरगूसन का कहना है कि शिवोपासना आर्यों का मूल धर्म नहीं है, वह द्राविड़ों की स्थानीय धार्मिक उपासना है, उसे द्राविड़ों की मूल उपासना के रूप में मानता ही उपयुक्त लगता है। डॉ. स्टीवन्सन् के अनुसार शिवजी द्रविड़ों के देवता हैं। **पुराकाल में द्राविड़ लोग ईश्वर की पूजा पुष्पों से करते थे** और सुगंधित द्रव्यों से पूजा करने की उनकी पुरानी आदत रही। पुष्प हृदय का सूचक माना जाता है। उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक लिंग ही शिवोपासना के चिह्न के रूप में सभी लोगों द्वारा माना गया है। यह बहुत प्राचीन काल से मानी हुई उपासना-पद्धति रही है। प्राचीन महाभारत काव्य में लिंगोपासना का उल्लेख प्राप्त होता है। वेद, उपनिषद आदि ग्रंथ भी इस उपासना पद्धति के बारे में अनेक बार उल्लेख करता है। (Sivagnana Botham P. 117, J. M. Nallaswamy Pillai) वैदिककाल के पूर्व प्रस्तर युग में शिवलिंग प्राप्त हुए हैं। अतः **लिंगोपासना वैदिककालीन उपासना से भी प्राचीन है** (P. T. Srinivasa Iyengar) परंपरागत पौराणिक कथा के अनुसार महर्षि अगस्त्य ने शिवजी से तमिल भाषा सीखी। इससे यह अनुमान किया जाता है कि द्राविड़ों के पुराने देवता शिवजी हैं। तमिलों के लिए हर एक पहाड़ की चोटी में ईश्वर (शिव) का निवास स्थान है। द्राविड़ लोग शिवजी को पर्वत के राजा के रूप में मानते हैं। परवर्ती युग में दक्षिणामूर्ति (शिव की ध्यानस्य, ज्ञानप्रदाता मनुष्यकार मूर्ति) की उपासना प्रचलित होने लगी। (तेन्नाडुडय शिवने पोट्रि -'तिरुवाचकम्') में आगम शास्त्र कर्म तमिलों द्वारा संस्कृत में किये गये उपासना हैं। शैव संत माणिक्कवाचकर शिवजी को दक्षिण का देवता मानकर 'तेन् पाण्डि नाट्टान्' शब्द का प्रयोग करते हैं। तमिल परंपरा के अनुसार मदुरै ही शिवजी का मूल निवास स्थान है। पी.टी. श्रीनिवास अय्यंगार का कथन इस संदर्भ में द्रष्टव्य है- 'प्राचीन उपासना-पद्धति अग्नि के आधार पर नहीं बनी है बल्कि प्राणियों की बलि पर आधारित है। वैदिक उपासना अग्नि उपासना पर आधारित है। द्राविड़ों एवं अग्नि उपासक आर्यों के बीच के संघर्षों के बारे में वेदों में उल्लेख प्राप्त हैं। (Vide a note on Vedic Culture - 'The Hindu' Sep. 17, 1924)। अग्नि में प्राणियों को बलि चढ़ाने की उपासना पर आधारित आर्यों की उपासना से द्राविडों को लगा कि इससे उनके मन की पवित्रता भंग हो जाती है। अतः आर्यों के देवता को नकारने तथा बलि चढ़ाने के काम को वे बुरा मानकर उसका तिरस्कार करते थे।

द्राविड़ धर्म पर पहला बाहरी प्रभाव वैदिक धर्म का ही था। उत्तर भारत के आर्य शनैःशनैः दक्षिण भारत

की ओर कदम बढ़ाने लगे। अपने साथ वे अपनी उपासना-पद्धति, सभ्यता आदि को ले आये। दक्षिण भारत के द्राविड़ों का सामना किया। अपने देशी धर्म और विश्वासों का पालन करने वाले द्राविड़ों पर आर्य अपना धर्म, विश्वास और दर्शन को थोपने लगे। फिर सामंजस्य और समन्वय के अभ्यस्त आर्य प्राचीन भारत की आदतों और विश्वासों के अनुरूप अपने आपको बदलने लगे, उनमें सुधार कर दिया। इससे द्राविड़ों के देवता वैदिक देवताओं के साथ हिल-मिल गये। यह घुल-मिल जाने की प्रवृत्ति दोनों में परस्पर होने लगी। कालांतर में आर्यों का प्रभाव द्राविड़ों पर ज्यादा होने लगा। इस प्रकार द्राविड़ों के समाज पर पड़े आर्यों के प्रभाव को तोलकाप्पियम के पूर्व रचित रचनायें तथा पुरानी टीकायें हमें दर्शाती हैं।

द्राविड़ों का अपना देशीय धर्म-शैव धर्म-उत्तर भारत के प्रभाव के अधीन होने लगा। वैदिक धर्म से परिचय द्राविड़ों को करानेवाले **आर्यों ने शैव-धर्म को स्वीकार किया।** इस प्रकार एक दूसरे के बीच आदान-प्रदान का कार्य चलता रहा। न केवल शिव बल्कि द्राविड़ों के अन्य देवता भी आर्यों के देवताओं की सूची में मिल गये। स्कन्धोपासना उत्तर भारत एवं दक्षिण भारत के बीच के सुदृढ़ बंधन का एक ज्वलंत उदाहरण है (South Indian images and Gods and Goddesses-H. Krishna Sastry)। धार्मिक समन्वय के बाद उसके विकास के बारे में भी विचारना होगा। इस दृष्टि से तोलकाप्पियम हमारे हाथ आता है। तोलकाप्पियम का काल ई.पू. आठवीं शताब्दी माना जाता है। तोलकाप्पियम में पांच भूभागों के अधिदेवताओं के नामों का उल्लेख प्राप्त है - इन्द्र, विष्णु (मायोन्), मुरुगन (शेयोन्), कालि (कोट्रवै), वरुणन् (तोल. पोरुल : ४४)। भारतीय जातियों में दार्शनिक विचारों में तमिलों का अपना महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। तोलकाप्पियम् का 'मेय्पाट्टियल' अंश मनोविज्ञान पर आश्रित है। तमिलों के धर्म का प्रधान सिद्धांत भी अद्वैत तत्व पर आश्रित है और तमिल संतों का दिखाया मार्ग भी प्रेम मार्ग ही है। इस विचार को साबित करने के प्रभूत प्रमाण तमिल साहित्य में उपलब्ध है (S. Anavrata Vinayakam Pillai's article : P. 71, Vol. IV The Siddhanta Dipika)।

ई.पू. तीसरी शताब्दी में **बौद्ध धर्म** का तमिलनाडु में प्रचार हुआ। तमिल प्रदेश के इतिहास में इस पुराकाल से संबंधित विवरण अस्पष्ट हैं। तमिल साहित्य में बौद्ध धर्म से संबंधित स्फुट सूचनायें प्राप्त हैं। श्रीलंका को गये बौद्ध भिक्षु एवं संन्यासी तमिल प्रदेश के मार्ग से ही गये। मार्ग में बौद्ध धर्म के विचारों का प्रचार किया। बौद्ध धर्म के विचारों ने तमिलों में जनजागरण तथा नयी प्रेरणा को उत्पन्न किया था। अच्छाई और बुराई दोनों के लिए व्यक्ति के अपने कर्म ही कारण होते हैं ('तीतुम् नट्रुम पिर्तर वारा') आदि अनेक विचार बौद्धों के माध्यम से तमिल प्रदेश में पहुंचे। उसी समय **श्रमण (जैन) धर्म** भी दक्षिण के अंदर प्रविष्ट हुआ और उनके विचारों से भी तमिल लोग प्रभवित हुए (द्रष्टव्य : प्रस्तुत लेखक का ग्रंथ 'श्रमण एवं बौद्ध धर्म और तमिल साहित्य')।

डॉ. स्लेटर का मत है कि **'द्राविड़ों का अपना अलग पुरोहित वर्ग था।** मंत्र-तंत्र के काम में ये लोग निष्णात थे। ब्राह्मण वर्ग के पूर्वज भी द्राविड़ लोग ही थे। जाति-व्यवस्था आर्यों के माध्यम से दक्षिण भारत में आयी हो इसकी संभावना नहीं दीखती। क्योंकि आर्यों के प्रभाव से दक्षिण के द्राविड़ लोग अलग रहकर अपनी अलग संस्कृति का विकास कर रहे थे। सुदूरपूर्व दक्षिण भारत की इस जाति-व्यवस्था की प्रथा का कारण द्राविड़ ही हैं न कि आर्य। यह संभव है कि आर्यों का आगमन उसके विस्तार के लिए अनुकूल रहा हो।' स्लेटर का यह विचार देश के विद्वानों के लिए शोध का विषय माना जाना चाहिए।

स्थापत्य :-

डॉ. स्लेटर के मतानुसार दक्षिण भारत में दिखाई देने वाले मंदिर बहुत श्रेष्ठ स्थापत्य कला के उत्तम नमूने हैं। स्थापत्य कला की सूक्ष्मताओं से प्राचीन तमिल लोग अच्छी तरह से परिचित थे। इसके उन्नत प्रमाण आज के विशालकाय मंदिर हैं। मंदिरों की बनावट एवं उसमें प्रतिष्ठित मूर्तियों का सौंदर्य अप्रतिम है। प्रस्तर खंडों के ये मंदिर तथा राजमहल आदि स्थापत्य कला के अति उत्तम नमूने हैं। दीर्घकालीन अनुभव प्राप्त शिल्पियों द्वारा ही इस प्रकार का निर्माण संभव हो सकता है। उत्तर भारत में इस प्रकार के मंदिर प्राप्त नहीं हैं। तमिलनाडु के मंदिर आर्येतर और अवैदिक संस्थायें हैं। मदुरै का मीनाक्षी मंदिर

तमिलों की स्थापत्यकला का अत्युत्तम नमूना है। मामल्लपुरम् की प्रस्तर मूर्तियां तो तमिलों की स्थापत्य कला और मूर्तिकला के अद्भुत नमूने हैं। अमरावती की शिल्पकला अपने ढंग की अद्भुत कला मानी जाती है। आर्य और द्रविड़ जातियों के मिश्रण के उपरांत इस कला में निखार आने लगा था। दक्षिण भारत के नगरों के समान उत्तर भारत में प्राचीन युग में नगर निर्माण नहीं था। व्यास महाभारत में इस तथ्य का उल्लेख करते हैं। इस संदर्भ में **रवीन्द्रनाथ टैगोर** का कथन उल्लेखनीय है : **पुराकालीन आर्येतर जाति का योगदान अमूल्य है, अप्रतिम है और कल्पना से परे का भी है। प्राचीन द्रविड़ संस्कृति आर्यों की संस्कृति से मिलने के बाद भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ। द्रविड़ों के प्रभाव से समृद्धि और गहराई। द्रविड़ लोग कला में निपुणत्व प्राप्त लोग थे। उनकी संगीतकला अत्युत्तम है। मूर्तिकला, शिल्पकला और स्थापत्यकला में वे बेजोड़ थे। उत्तम भवनों का निर्माण उनके द्वारा हुआ। द्रविड़ों की उदात्त भावनायें, संवेदनायें, रचनात्मक प्रतिभा और कौशल ने आर्यों की प्रतिभा के साथ मिलकर जिस बालक को जन्म दिया वह न तो पूर्ण रूपेण आर्य है और न द्रविड़। वह 'हिन्दू' के नाम से विकसित होने लगा** (A vision of India:Vishwa Bharati Quarterly No. 1)। फरगूसन द्राविड़ों की स्थापत्यकला के बारे में विचार गर्भित अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं, उनके मतानुसार : 'आर्य जाति वास्तुकला में क्षमता प्राप्त एक जाति नहीं थी। सब बिनष्ट होनेवाला है इस पर उनका विश्वास था, अतः ये सारे भवन एक दिन बिनष्ट हो जायेंगे। भारत में निर्मित भवन या तो तूरानी सभ्यता के हैं अथवा द्राविड़ों के ('Ferguson - Tree and Serpent Worship')। द्राविड़ों की स्थापत्य कला संबंधी डॉ. आर. जी. भण्डारकर के विचार भी यहां उल्लेखनीय हैंः 'दक्षिण की कलायें पूर्णतः उत्तर भारत की कलाओं से भिन्न हैं। वैदिक युग से भी प्राचीन ये कलायें हैं। जहां तक स्थापत्यकला का संबंध है वह आर्यों की सभ्यता के बहुत पूर्व से ही विकसित बहुत प्राचीन एक कला है। अतः द्राविड़ लोग पुराकाल से ही सभ्याता की दृष्टि से बहुत आगे थे।'

आर्यों के भारत प्रवेश के पूर्व सारे भारत में द्रविड़ जाति के लोग ही व्याप्त थे। डॉ. स्लेटर के कथनानुसार, 'आर्य लोग बड़े आक्रमणकारी एवं आक्रामक स्वभाव के थे। उनके पास घोड़े थे। वे घोड़े उनकी यात्रा के लिए तथा सेना व राजनीतिक कार्यों के लिए बहुत उपयोगी थे। सुमेरियन लोगों एवं द्राविड़ लोगों के पास घोड़े जैसे त्वरित गति से चलनेवाले पशु नहीं थे जबकि धनोपार्जन और सभ्यता को विकसित करने में वे आगे थे। आर्यों के भारत आगमन के बहुत पूर्व ही सभ्यता और संस्कृति में अनेक गुना वे ऊंचे स्तर पर थे। अतः भारत के ये पुराकालीन लोग संस्कृति में आर्यों की अपेक्षा नीचे थे यह मानना बड़ी भूल होगी। समाजिक व्यवस्था में द्राविड़ लोग आर्यों के समकक्ष ही थे। भूमि का उपयोग करना, ग्रामों की व्यवस्था, कर वसूली आदि में द्राविड़ों से आर्यों ने बहुत कुछ सीखा। (Introduction to the Ambratha P. 96 'Sacred Books of the Buddhists')।

बाहर से भारत के अंदर प्रवेश करने वाले आर्यों तथा उत्तर भारत में जमने के बाद दक्षिण भारत के अंदर प्रविष्ट हुए आर्यों में भिन्नता मानी जाती है। आर्यों ने दक्षिण में आकर द्राविड़ों की सभ्यता में अपनी सभ्यता और संस्कृति के कुछ तत्वों को मिलाया। मगर द्राविड़ लोग पूर्णतः उन्हें स्वीकार करने की स्थिति में नहीं थे। कारण पहले से ही वे अपनी सामाजिक व्यवस्था, भाषा, साहित्य और सभ्यता में समृद्ध थे। तथापि आर्यों की भाषा को भी उन्होंने सीखा, उनकी सभ्यता के कुछ अंशों को वे स्वीकार किये। (R. G. Bhandarkar : 'Early history of the Decan P. 5')।

द्रविड़-आर्य मिलन :-

हिन्दू सभ्यता में द्राविड़ों का प्रभाव लगातार उपेक्षित ही रहा है। कारण, हिन्दूधर्म के विकास के संदर्भ में रचे गये साहित्य द्राविड़ों के विरुद्ध आर्य पुरोहितों द्वारा रचे गये हैं। उनका उद्देश्य पुरोहितों की महत्ता को बताना और द्राविड़ों से संबंधित विचारों की उपेक्षा रहा है। लेकिन सत्य तो यह है कि द्राविड़ों की सभ्यता आर्य सभ्यता से भी अति प्राचीन सभ्यता है। आर्यों के मध्य पुरोहितों का ही वर्चस्व बना रहा। क्षत्रिय को भी पुरोहितों के बाद महत्व प्राप्त था। तमिलों में पुरोहितों के बाद खेतों में काम करनेवाले 'वेळाळर' (कृषक) ही महत्व प्राप्त वर्ग था।

उनके बाद 'आयर' कहलानेवाले आभीर तथा कलाकारों का स्थान था। अंतिम श्रेणी में युद्ध में वीरता प्रदर्शित करनेवाले 'मखेर' योद्धा थे।

कृषि-कर्म :-

पुराकालीन द्राविड़ सभ्यता में आगे थे यह बात इससे भी सिद्ध होती है कि वे भूमि को जोतकर धान, तिल आदि की खेती करते हुए खेतीबाड़ी में आगे थे। वे प्राकृतिक रूप से किसान-खेडूत ही थे। मगर यह गलत धारणा प्रचलित हो चुकी है कि आर्यों ने ही खेती बारी की शिक्षा दक्षिण भारतीयों को दी थी। वास्तविक बात तो यह है कि आर्यों के दक्षिण आगमन के पूर्व ही तमिल लोग कृषि संस्कृति से परिचित हो चुके थे। पुराकालीन तमिल शासक एवं कृषक लोग खेत जोतने, खेती बारी करने में अधिक अनुभव प्राप्त कर चुके थे। तमिल संगम साहित्य 'पुरनानूरु' काव्य संकलन की एक कविता है जिसमें महाभारत के युद्ध के बाद चेर राजा उदियन के कुरुक्षेत्र से वापस लौटकर आने पर मुड़िनागनार नामक कवि ने चेर नरेश की स्तुति में एक गीत गाया जिसमें यह बताया गया है कि चेरनरेश ने महाभारत के युद्धवीरों के अठारह दिन तक अन्न भोजन दिया था (पुरनानूरू 2: 13-16)। विन्ध्य के दक्षिण में पुराकाल से ही धान की खेती बहुतायत से होती थी इससे इन्कार नहीं कर सकते।

खेत और खेत के आसपास के भूखण्ड को तमिल में मरुतम् कहते थे। मरुतम्, नेल् आदि शब्द शुद्ध तमिल शब्द हैं। सर जॉन हीवट (Sir John Hewitt) नामक पाश्चात्य विद्वान ने The Prehistoric ruling races अपने ग्रंथ में इस बात का उल्लेख किया है कि कृषि संस्कृति को पहले पहल भारत में विकसित करनेवाले लोग द्राविड़ ही थे। पुरातत्वों की खोज, परंपरा तथा तमिल साहित्य आदि इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं। अलेक्ज़ेण्ड्रिया, एम.ए. वालहवुस, केप्टन-यूबोल्ड, बरसीस, काल्डवेल आर. सीवल आदि पाश्चात्य विद्वानों ने तमिलों की प्राचीनता एवं उनकी कृषि संस्कृति को समझाते हुए स्पष्ट किया है।

हस्त-कौशल :-

औद्योगिक कलाओं में भी द्राविड़ पर्याप्त उन्नत थे। धातुओं को गलाकर अनेक प्रकार के औजार बनाने की कला में वे निष्णात थे। लौह धातुओं के काम करनेवाले लोगों को द्राविड़ लोग 'करमार' कहते थे। आज तमिल प्रदेश में उन्हें 'कम्माळर' कहने की प्रथा प्रचलित है। संभवतः करुमान्, करमाळर शब्द से निकला होगा। द्राविड़ भाषा का शब्द कर्म ही करमान बना होगा। संस्कृत में भी 'करमान' शब्द का अर्थ 'गलानेवाला' है। हस्तकौशल में प्रवीण कलाकार स्वर्ण, मोती, कीमती पत्थरों से आभूषण बनाने में माहिर थे। दक्षिण भारत में पुरातत्त्व विभाग ने अनेक स्थलों पर तांबा, पीतल आदि से बने बरतन खोज निकाले हैं। ये सारी वस्तुयें बताती हैं कि प्रागैतिहासिक काल से ही द्राविड़ जाति इन हस्तकौशल के कामों में तथा अन्य प्रकार की कलाकृतियां बनाने में माहिर थे। इस प्रकार आर्थिक समृद्धि पाकर ये लोग बहुत उन्नत दशा में थे।

संगीत :-

प्राचीन काल में **तीनों संगम कालों** में 'इसै नुणुक्कम्', 'इन्दिरकालीयम्', 'मुदुनारै', 'मुदुकुरुकु', 'पंचमरबु', 'भरतसेनापतीयम्' आदि संगीत शास्त्र से संबंधित ग्रंथों की बड़ी मान्यता रही। खेद की बात है कि संगीत शास्त्र के ये तमिल ग्रंथ आज अनुपलब्ध हैं। तमिलों की उपेक्षा के कारण वे आज कालकवलित हो चुके हैं। उनके कुछ छंद 'शिलप्पदिकारम्' महाकाव्य में सुरक्षित हैं। प्राचीन कालीन अपूर्व संगीत परंपराओं को श्रेष्ठकवि तथा संन्यासी इळंगो अडिगळ अपनी रचना में सुरक्षित रखे हुए हैं। अपने कुल देवता कण्णन का ध्यान् करते हुए आयर कुल की कन्यायें नृत्य करते हुए गाते समय प्राचीन गीत-परंपराओं तथा नृत्य-परंपराओं को कवि इळंगोअडिगळ (शिलप्पदिकारम्, गाथा-17) 'आय्च्चियर कुरवै' नामक खंड में चित्रित करते हैं। कण्णन् को संबोधित कर कुरवै नृत्य करते समय कवि इळंगो संगीत की सूक्ष्मताओं को समझाते और स्पष्ट करते हैं। शिलप्पदिकारम् काव्य के टीकाकारों ने अपने समय में प्रचलित तमिल संगीत के ग्रंथों का अनुकरण करते हुए तमिल संगीत के लक्षणों को समझाने का प्रयास किया है। ये सारी व्याख्यायें तमिल लोगों के संगीतज्ञान की श्रेष्ठता को स्पष्ट करती हैं (K. M. ponnuswamy Pillay's article on Indian Music, Jan, 1924 'The Hindu')।

खगोल-विद्या :-

डॉ. मक्लीन (Dr. Maclean) लिखते हैंः दक्षिण भारत के मछुआरे चांद की गति के आधार पर मछली पकड़ने के अनुकूल समय को बहुत अच्छी तरह अनुमान कर लेते थे। दक्षिण भारत के कृषक लोग सूर्य की गति को आधार बनाकर वर्षा, आंधी आदि का स्पष्ट अनुमान लगाते थे। 'इस प्रकार खगोल विद्या का विकास यहां हुआ। साठ वर्षों में समय का हिसाब तमिलों का अपना हिसाब है जो आर्यों की व्यवस्था में प्राप्त नहीं है। डॉ. स्लेटर के मतानुसार तमिलों का काल-विवरण सूर्यायन तथा सूर्य की गति के आधार पर किया गया है। बारह महीनों का हिसाब, सबेरा, दिन, रात आदि का उनका वर्गीकरण सूर्य के संचरण के आधार पर किया गया है। अतः ज्योतिष, खगोल विद्या का परिज्ञान, कालभेद के गणित का मूल्यांकन संस्कृत के आधार पर प्राप्त ज्ञान मानना गलत है। तमिल लोग पुराकाल से खगोल विद्या में और गणित विज्ञान में निष्णात माने जाते हैं।

वाणिज्य-व्यापार :-

वाणिज्य-व्यापार में पुराकालीन द्राविड़ों का योगदान विस्मयकारी माना जा सकता है। पुराकाल में द्राविड़ लोग समुद्री वाणिज्य में निपुण लोग थे। वे महानाविक (good seafearers) थे। दक्षिण भारत के द्राविड़ लोग समुद्री यात्रा में अधिक अभ्यस्त लोग माने जाते थे। हिन्द महासागर के अधिकांश भागों में उनकी यात्रा चलती थी। ई.पू. आठवीं शताब्दी के पूर्व से ही दक्षिण भारत तथा पश्चिमी एशिया के मध्य समुद्री मार्ग से वाणिज्य व्यापार का संपर्क रहा। इसे प्रमाणित करने के अनेक अन्तःसाक्ष उपलब्ध होते हैं। भारत में वैदिक संस्कृति के प्रसार के पूर्व ही द्राविड़ लोग बाबिलोनिया के साथ संपर्क कर चुके थे। सुमेरिया की राजधानी 'ऊर' नामक स्थान में दक्षिण भारत की सागौन की लकड़ी पायी गयी है जो बैबिलोनिया का बंदरगाह भी था। ई. पू. 4000 के लगभग दक्षिण भारत से सागौन की लकड़ी का निर्यात हुआ था। सागौन के पेड़ मलाबार के प्रदेश में समुद्र तटवर्ती इलाकों में बहुत पाये जाते हैं।

यहां जोसफ़ का इतिहास भी ध्यान देने योग्य है। जोसफ़ ई. पू. 1700 में मिस्र देश में आया था। उस समय भारत के व्यापारी अरब सागर पार कर सीरिया, बेबिलोन के मार्ग से मिस्र देश पहुंचकर वाणिज्य-व्यापार में लगे हुए थे। ई.पू. 1462 में मिस्र में अठारहवीं पीढ़ी के राजाओं की परंपरा समाप्त हुई। मिस्र देश में राजा को, मृत्यु के बाद 'ममि' की पद्धति से नील नदी के किनारे 'पिरमिड' खड़ा करके उसमें शव को दफ़नाते थे। उन राजाओं का मृत शरीर भारतीय मस्लीन कपड़े (मलमल) से लपेटा हुआ था। प्रो. लासन (Prof. Lassen) लिखते हैंः 'मिश्र देश में उस युग में रंग-रोगन किया हुआ एक भारतीय कपड़ा मिला जो एक प्रकार के पौधे से प्राप्त रंग में डुबोकर बनाया गया था। यह पौधा भी भारत से ही वहां लाया गया था। ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित 'ममि पर लिपटे मलमल' कपड़े की जांच करनेवाले थामसेन नामक विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि यह कपास से बना कपड़ा नहीं है, बल्कि लिनन कपड़ा है। सर जार्ज विल्किन्सन् (Sir George Wilkinson) ने इस बात की ओर संकेत किया कि इस पर प्राप्त चित्र मिश्र के राजवंश की अठारहवीं पीढ़ी के शासकों का चित्र है। मिस्र के लोग समुद्री यात्रा के लिए फीनिशियन लोगों को तैनात करते थे। मिस्र के जहाज दक्षिण भारत के बंदरगाह 'मुसिरि' में लंगर लगाकर खड़े होते थे। ये जहाज भारत से सोना, चांदी, हाथी-दांत, बंदर, मोर आदि को लादकर ले जाते थे (G. Oppert on the Ancient Commerce of India)। ई.पू. 962-930 में शासन करनेवाले सालमोन नामक यहूदी राजा के पास तमिल प्रदेश की चंदन की लकड़ी, बंदर, मोर आदि थे। भारत से लाया गया मयूर बाइबिल में 'तुक्कियम्' (Tukkiyam) नाम से जाना जाता था। 'तोकै' तमिल शब्द का यह विकृत रूप 'तुक्कि' है। यह शब्द यहूदी भाषा के कोष में स्थान पा चुका है।

भारत और **असीरिया** के बीच व्यापार चलता था। ई.पू. 14वीं शताब्दी में असीरिया को यहां से सोना, चांदी, रेशमी कपड़े, मोती, हाथी दांत इत्यादि अनेक वस्तुओं का निर्यात होता था। भारत से विदेश को जाने वाली वस्तुओं में स्वर्ण को प्रमुख स्थान प्राप्त था। ग्रीस के सुप्रसिद्ध कवि होमर भारत से आयातित वस्तुओं को खरीदते थे। पुरातत्व के उत्खनन में प्राप्त वस्तुओं से तथा शिलालेखों से प्राप्त विवरणों से भारत और असीरिया के बीच हुए व्यापार के

बारे में पता चलता है, इसे एम.एम. पेरट और चिपिज़ (M. M. Perrot & chipies) नामक विद्वानों ने स्पष्ट किया है। मिस्र के ग्रंथों में असीरिया तथा मेसोपोटामिया के लोगों की भौतिक समृद्धि के बारे में अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। पुराकालीन असीरिया साम्राज्य की राजधानी निन्वे Nineveh में बहुत स्वर्ण सुरक्षित रखा गया था। पुरानी बैबिलोनिया की भाषा में 'सिन्धु' नामक कपड़े का उल्लेख प्राप्त है। सिन्धु शब्द भारत से निर्यातित भारतीय कपड़े की ओर संकेत करता है। (Vide: Ragozin's Vedic India, P. 307)।

ई.पू. आठवीं शताब्दी व परवर्ती युग में चले वाणिज्य के संबंध में अधिक प्रमाण उपलब्ध होते हैं- 1. ई.पू. 727-722 में असीरिया के शासक सालमनेसर नामक राजा को भारत के हाथी भेंट के रूप में प्रदान किये गये थे। (Vide: Kennedy's article J. R. A. S. 1898)। 2. ई.पू. 604-562 में शासन करने वाले नबूसरनेज़र नामक राजा के राजमहल में भारतीय सागौन पेड़ों से बने शहतीर लगे थे। 3. एक बौद्ध जातक कथा में यह उल्लेख प्राप्त है कि बेबिलोनिया को भारत से मोर ले जाये गये थे। 4. हीब्रू भाषा में इस बात का उल्लेख मिलता है कि भारत से चावल, चंदन की लकड़ियां बेबिलोनिया को भेजे गये थे और वहां से आयातित मालों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। 5. बेबिलोनिया में द्राविड़ लोगों की बस्तियां थी। (Vide: Kennedy's article on the Early Commerce of Babylon with India: J.R.A.S. 1898)। 6. इस वाणिज्य-व्यापार में आर्यों का योगदान नगण्य माना जाता है।

अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य संकेत करते हैं कि उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत तथा विदेशों के बीच चला वाणिज्य ही प्रमुख है। मदुरै कपड़ों के व्यापार के लिए प्रमुख केंद्र था। तोलकाप्पियम् के पोरुळधिकारम् खण्ड में यह उल्लेख प्राप्त है कि तमिल लोग सागर पार कर धनोपार्जन करने में निष्णात थे। तमिल भाषा में यह उक्ति प्रचलित है कि 'तिरै कडलोडियुम् दिरवियम् तेडु' अर्थात् समुद्र पार करके भी द्रव्योपार्जन का प्रयास करना उचित है। जहाज के लिए प्रयुक्त तमिल शब्द है 'ओडम्', यह संस्कृत शब्द नहीं है। निर्यातित वस्तुओं में एक प्रमुख वस्तु 'मुत्तु' है, यह तमिल भाषा का शब्द है जो संस्कृत में 'मुक्ता' बन गया। ग्रीक भाषा में चावल के लिए प्रयुक्त 'ओरिस' शब्द तमिल भाषा का 'अरिसि' शब्द है। यूनानी लोग चावल, कालीमिर्च, अदरक आदि वस्तुओं को तमिल प्रदेश से आयात करते थे (Oppert: On the ancient Commerce of India P. 37)।

श्रीलंका (सिंहल द्वीप) के इतिहास में महावंश, राजावलि, राजरत्नाकरी आदि ग्रंथों के द्वारा सिंहल द्वीप तथा चोल, पाण्ड्य राजाओं के मध्य रहे वाणिज्य एवं आपसी रिश्तों का भी पता चलता है। ई. पू. छठी शताब्दी में विजयन नामक सिंहल राजकुमार ने पाण्ड्य राजा की पुत्री से विवाह किया था (Radhakumud Mookherji's-Indian Shipping P. 70)। पूर्वी समुद्रतटवर्ती प्रदेश के तूत्तुक्कुडि से जहाजों में पाण्ड्य राजकुमारी के साथ सिंहल देश के राजकुमार के विवाह के निमित्त भेंट की वस्तुयें भेजी गयीं थी। सिंहल प्रदेश से वरपक्ष के लोग समुद्रतट पर पहुंचे। पाण्ड्य राजकुमारी के लिए भेंट स्वरूप लायी गयी वस्तुओं में हाथी, घोड़े, राजकुमारी के लिए आवश्यक वस्तुयें, अठारह राजसेवक हस्तकौशल में कुशलता प्राप्त लोग, एक हजार परिवार, पचहत्तर नौकर, दास लोग, राजकुमारी की सेवा के निमित्त व उनके साथ रहने के लिए सात सौ कन्यायें आदि स्थान प्राप्त थे। (The Deccan in the time of Gouthama Buddha by Thomas Foulker : Indian Antiquity Vol. 16 P. 49-57 and Page 1-8) ये सारे विवरण सिंहलों तथा पाण्ड्य राजाओं के बीच वैवाहिक संबंधों को सूचित करता है। ई.पू.20 में 'एलाल' नामक चोल राजा ने सिंहल द्वीप पर चढ़ाई कर विजय प्राप्त की थी (Ceylon by J. E. Jennent P. 353) बौद्ध भिक्षुओं का इतिहास बताता है कि चालीस साल तक सिंहल द्वीप पर तमिल राजाओं ने शासन किया था। चोल एवं पाण्ड्य प्रदेश से लोग अक्सर वहां आते जाते रहते थे। तमिल लोग वहां बसे हुए भी थे, बड़े-बड़े मंदिरों का निर्माण किया था। इस प्रकार सिंहल द्वीप तथा तमिलनाडु के बीच गहरा संपर्क एवं संबंध भी बना रहा।

ईसा पूर्व की अनेक शताब्दियों से ही **इण्डोचीन** तथा दक्षिण भारत के बीच वाणिज्य संपर्क रहा। बर्मा तथा उससे सटे हुए समुद्रतटवर्ती देशों में दक्षिण भारतीय व्यापारी

समुद्र मार्ग से यात्रा करते थे। उनके साथ व्यापारिक संबंध रहा और भारतीय लोग वहां बसे भी थे। **दक्षिण भारत और चीन** के बीच लंबे काल तक वाणिज्य संपर्क रहा, स्थल मार्ग एवं जलमार्ग दोनों से व्यापार चलता था। 'मणिमेखलै' नामक प्राचीन प्रबंध काव्य (दूसरी शताब्दी ई. सन्) से यह स्पष्ट होता है कि ई. पूर्व से ही तमिलों का वाणिज्य संबंध सुमद्रा (सुमात्रा), जावा, मलय (मलेशिया) आदि द्वीपों से रहा (सेन्तमिल वाल्यूम 13, पृ. 156)। तमिल भाषा में कडल, परवै, पुणरि, आळि, मुन्नीर आदि समुद्र के लिए प्रयुक्त शब्द हैं। ये शुद्ध तमिल शब्द जहाज के लिए भी प्राचीन काल से ही प्रयुक्त शब्द हैं। (सेन्तमिल वाल्यूम 13, पृ.156)।

ईसा पूर्व की शताब्दियों में **रोम तथा दक्षिण भारत** में वाणिज्य बहुत विस्तृत रूप से रहा। रोम के निवासी मुसिरि जैसे तमिल प्रदेश के समुद्रतटवर्ती नगरों में निवास करते थे। मुसिरि पश्चिमी तटवर्ती प्रसिद्ध बंदरगाह है। यहां यवन लोग अक्सर आते जाते रहते थे। मलाबार (केरल) के समुद्रतटवर्ती प्रदेश में ग्रीक लोगों का निवास रहा। दक्षिण भारत में रोमन सिक्के प्रचलित हुए। तलिच्चुरी, कोट्टयम, मदुरै जिला के आसपास, कोयमुत्तूर, पोळळाच्चि, करुवूर, पुदुक्कोट्टै आदि स्थानों में रोमन सिक्के प्राप्त हुए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि दक्षिण भारत तथा रोम के बीच का व्यापार बहुत विस्तृत था। मिस्र देश के अलक्ज़ेन्द्रिया के मार्ग से रोम के लिए भारतीय वस्तुयें ले जायी जाती थीं। समुद्र से मोती निकालने का धंधा तमिलों का पुराना धंधा रहा। उस युग में मोती निकालने के प्रदेशों को यूनानी लोग खूब जानते थे। (The Cambridge History of India, Vol.1, P.423)। उस युग में मोती नारियों के लिए प्रिय एवं वांछनीय वस्तु रही। रोम और तमिल प्रदेश के बीच मोती का व्यापार बड़े जोरों से चलता था। रोम की नारियां मोती को बहुत चाहती थीं। वे अपने शरीर के प्रत्येक अंग में मोती से बने आभूषण पहनने में गर्व का अनुभव करती थीं। रोम साम्राज्य के चक्रवर्ती गैयास क्लानियस की पट्टमहिषी लोल्ला, दो तीन लाख पाउण्ड मूल्य के मोती के आभूषण पहने इठलाती थी। एण्टोनिया की प्रेयसी मिस्र की रानी क्लीयोपाट्रा की कहानी सब जानते हैं जो बहुमूल्य दो बड़े-बड़े मोती अपने कानों में पहनती थी, आठ लाख मूल्य का एक मोती वह शराब में घोलकर पीती थीं। दक्षिण भारत से रोम को रंगीन मणियां, कीमती रत्न, रंगीन कीमती पत्थर, सोना आदि का निर्यात होता था। इतिहासकार प्लीनी लिखते हैं कि दक्षिण भारत से होनेवाले व्यापार के कारण रोम के निवासी प्रति वर्ष बीस लाख पाउण्ड का धन खोते हैं। पश्चिमी एशिया, पूर्वी यूरोप तथा दक्षिण भारत के बीच वाणिज्य के फलस्वरूप मदुरै के शासक पाण्ड्य राजा ने ई. पू. 20 में रोम के सुप्रसिद्ध सम्राट अगस्टस सीजर से मिलने के लिए दूतों की एक टोली भेजी थी। एक अन्य पाण्ड्य राजा ने यूनानी वीरों को अपने विश्वस्त अंग रक्षक के रूप में तैनात किया था।

विदेशी व्यापारी भारत आते थे और मलाबार के तटवर्ती प्रदेशों से कालीमिर्च, अदरक, काजू, इलायची, चंदन की लकड़ियां, औषधि के पौधे आदि खरीद कर अपने देश को ले जाया करते थे। चोलमण्डल (इसकी राजधानी वर्तमान तमिलनाडु में कावेरीपट्टनम थी) के तटवर्ती प्रदेश में नेल्लूर से लेकर कडलूर, पुदुच्चेरी तक रोम के सिक्के, चीन के सिक्के तथा अन्य अनेक वस्तुयें प्राप्त हैं। तमिल साहित्य हमें यह बताता है कि ई. सन् के प्रारंभ के बाद भी तमिलों का समुद्री वाणिज्य बहुत जोरों पर था। 'मणिमेखलै' नामक प्रबंध काव्य में मणिमेखलै समुद्र पारकर 'आपुत्र' द्वीप पहुंचती है। एलेलसिंगन नाम तमिल राजा के जहाज सात समुद्र पारकर बिना किसी हानि के वापस लौट आते थे। **प्राचीन तमिल वणिक लोग ही परवर्ती युग में शासक भी बने थे।**

मुसिरि बंदरगाह चेर प्रदेश (वर्तमान केरल) में है, कोट्टयम के पास वैक्करै उसका आज का नाम है। मोती के वाणिज्य के लिए प्रसिद्ध कोर्क्कै बंदरगाह पाण्ड्य प्रदेश (इसकी राजधानी वर्तमान तमिलनाडु में मदुरै थी) में है। ग्रीक भाषा में इसका नाम 'कोळक्कै' है। 'पुकार' चोल राज्य का प्रसिद्ध बंदरगाह है, कावेरी नदी इस जगह पर समुद्र में मिलती है। यहां **यवनों की बस्तियां रहीं** (Tamilian Antiquary Vol.No.1, P.45)। 'पूम्पुकारपट्टिणम्' की महत्ता को पट्टिणप्पालै' नामक संगम युगीन काव्य संकलन में कवि उरुत्तिरन् कण्णनार स्पष्ट करते हैं। यह ईस्वी सन् तीसरी शताब्दी का काव्य है।

कारैक्काल, मण्मेल् कुडि, अम्माळ पट्टिणम्, कायल पट्टिणम्, कुलशेखर पट्टिणम्, तोण्डि आदि ई0 सन् की प्रथम शताब्दियों में बहुत प्रसिद्ध बंदरगाह थे। तमिल कवि अपनी रचनाओं में यवनों से प्राप्त वस्तुओं का उल्लेख करते हैं। मदुरै महानगर के रक्षक यवन ही थे। यवनों के जहाज मुसिरि बंदरगाह पर आते जाते रहते थे जिसे 'पुरनानूरू' के संगम कालीन गीत हमें समझाते हैं। (Prof. Dubreiln's Article, India and the Romans, Indian Antiquary Vol.II P. 51-52)। तमिल लोग समुद्रतट पर दीपस्तंभ (Light House) की स्थापना करते थे। (सेन्तमिल वाल्यूम 3, पृ. 159)। तमिल साहित्य हमें समझाता है कि **प्राचीन तमिल लोग संपत्तिशाली, समृद्धिशाली लोग होते थे** और सभ्यता के विकास के साथ सुखी एवं संपन्न जीवन बिताते थे। वह युग भौतिकतावादी एवं भोगवादी युग माना जाता था। भौतिक सुखों को भरपुर जीने की एक ललक उस युग के तमिलों में पायी जाती थी। विदेशियों को आकर्षित करने वाली अनेक वस्तुयें यहां प्राप्त होती थीं। उनमें प्रमुख रूप से उल्लेखनीय वस्तुयें हैं– **सोना, चांदी, मोती, शंख, काली मिर्च, इलायची, लौंग, काजू, अदरक, सूती कपड़े आदि** तथा जीवन की आवश्यकताओं की अन्य अनेक वस्तुयें यहां प्राप्त होती थी। अतः विदेशी प्रभाव भी यहां पड़ा था। समुद्री तूफ़ान और 'सुनामी' संबंधी जानकारी द्रविड़ लोग बेबिलोन के निवासियों से सीख चुके थे (Rogozin's Vedic India Page 344)। द्रविड़ सभ्यता का प्रभाव विदेशियों पर भी पड़ा होगा। पश्चिमी एशिया पर द्राविड़ों के प्रभाव के बारे में शोध की आवश्यकता है।

उत्तर भारत पर महमूद गजनवी का आक्रमण

उत्तर भारत पर आक्रमण करने वाले विदेशी मुस्लिम आक्रमणकारियों में से मुहम्मद गोरी ने भारत को अपने साम्राज्य के अधीन लाने की बड़ी महत्वाकांक्षा लेकर भारत पर आक्रमण किया था। मगर उसके पूर्व भारत के अंदर प्रवेश करने वाले महमूद गजनवी की कहानी इससे भिन्न है। वह केवल लुटेरा एवं मंदिर विध्वंसक था।

अफगानिस्तान के काबुल नगर के दक्षिण में गजनी नगर स्थित है। ई. सन् 977 में मध्य एशिया के एक तुर्क धनी व्यक्ति (आरंभ में वह तुर्क गुलाम ही रहा ऐसा कहा जाता है। गजनी को अपनी राजधानी बनाकर शासन करता था। उसी का पुत्र था यह महमूद गजनवी। ई. सन् 998 में, अपने पिता की मृत्यु के बाद जब वह गद्दी पर बैठा तब उसकी उम्र सत्ताईस वर्ष की थी। दो साल बाद आनेवाली नई शताब्दी बड़ी आफत और बड़े सिरदर्द के साथ शुरू होनेवाली थी, सन् 1000 में भारत पर गजनवी का प्रथम आक्रमण हुआ।

चाहे मध्य एशिया हो, अफगानिस्तान हो या अरब देश वहां गद्दी पर बैठते ही शासक लोगों को भारत के बारे में जो विवरण प्राप्त होते उनसे वे चकित होते। जासूसों द्वारा उनको भारत में गगनचुंबी मंदिर, विशालकाय आकर्षक राजमहल, अमूल्य हीरे, मोती, जवाहरात एवं बहुमूल्य आभूषणों एवं अन्य अनगिनत सम्पत्तियों के बारे में जानकारी मिलती, उससे उन्हें बड़ा अचरज होता और भारत के प्रति आकर्षण भी। सुनसान मरुभूमि, बीहड़ जंगल और पर्वत श्रेणियों से घिरे अपने प्रदेशों के परिवेश से बिलकुल भिन्न समृद्ध परिवेश के बारे में जानकर वहां के शासकों के मन में भारत की अपार संपत्ति के प्रति आकर्षण हुआ तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

बहुत बड़ी घुड़सेना के साथ खैबर की घाटियों को पार कर भारत के अंदर महमूद गजनबी ने अपनी सेना सहित प्रवेश किया। सिन्धु नदी को पारकर पंजाब के अंदर जब उसकी सेना प्रवेश कर गयी तो उसका सामना करनेवाला पंजाब का शासक था राजा जयपाल।

राजा जयपाल ब्राह्मण कुलोत्पन्न शासक था। नौवीं शताब्दी में उसके परदादा काबुल और गान्धार प्रदेश में शासन करते थे। उसके वंशज बाद में अफगान एवं अरब देश की सेना के बार-बार के आक्रमणों से तंग आकर पंजाब में प्रवेश कर वहां शासन करने लगे थे। इस वंश के पंजाब पर शासन करते समय शुरू में महमूद गजनवी की बड़ी घुड़सेना से मुठभेड़ करने का दुर्भाग्य राजा जयमल को हुआ।

बड़े आक्रोश एवं बड़ी चातुरी से आक्रमण करने वाले इस अफगान आक्रमणकारी के सामने जयपाल की वीरता और साहस कुछ काम न कर सकी। प्रथम आक्रमण में ही बड़ी विजय हासिल कर अफगान सेना लगातार आगे बढ़कर उथल-पुथल मचाने लगी। पंजाब की अपार संपत्ति को लूटकर उसे हजारों ऊंटों पर लादकर ले जाने में हजारों अफगान वीर लगे रहे। फिर प्रत्येक बार के आक्रमण में यही कहानी दुहराई गई। लूट, हत्या, मारकाट और फिर यहां की संपत्ति को बटोरकर अपने प्रदेश वापस लौटना।

गजनवी भारत की संपत्ति को बहुत चाहने लगा। अतः सन् 1000 से प्रारंभ कर प्रत्येक वर्ष वह भारत पर आक्रमण करना एक बहुत बड़े जश्न और उत्सव की भांति मनाने लगा। एक भेड़िये के मुंह में फंसे बेचारे हिरन के बच्चे की भांति सौराष्ट्र, कन्नौज, मथुरा, थानेश्वर आदि जगहों पर गजनवी का आक्रोशपूर्ण आक्रमण एवं भयंकर लूटपाट लगातार चलता रहा। मुलतान के शासक सुलतान दाऊद पर भी उसने आक्रमण किया, उसे भी नहीं छोड़ा। लूटपाट करना ही उसका मुख्य उद्देश्य रहा। दाऊद की हत्या कर मुलतान को तहस-नहस कर डाला इस लुटेरे ने। वास्तव में गजनवी एक भयंकर लुटेरा ही रहा।

महमूद गजनवी की एक और विचित्र एवं क्रूर आदत थी। जिन-जिन राजाओं को उसने हराया उन राजाओं की उंगलियों को काट अपने साथ ले जाने में उसे बड़ा मजा आता था। इस प्रकार बार-बार के आक्रमण और विजय से प्रोत्साहित होने के पश्चात उसकी कुदृष्टि भारत के बड़े बड़े विशालकाय मंदिरों पर पड़ी। भारत के मंदिरों की अपार संपत्ति एवं उनके वैभव के बारे में उसे अपने जासूसों द्वारा जानकारी मिली। खासकर, गुजरात के प्राचीन बड़े वैभवशाली सोमनाथ मंदिर पर इस क्रूर अत्याचारी लुटेरे की कुदृष्टि पड़ी। सबसे भयंकर एवं भीषण दुर्घटना सोमनाथ मंदिर पर आक्रमण की थी।

दिसम्बर सन् 1025 के दिन 17वीं बार धूल उड़ाते हुए गजनवी की बड़ी घुड़सेना, राजस्थान के रेगिस्तान को पार करते हुए गुजरात के दक्षिणी छोर पर समुद्र किनारे पर स्थित सोमनाथ शहर के अंदर, समुद्र की लहरों की बाढ़ की भांति प्रवेश करने लगी। वहां समुद्र किनारे स्थित सोमनाथजी नामक शिवजी के सुप्रसिद्ध बड़े मंदिर के अंदर उसकी सेना ने भयंकर आक्रमण किया। मंदिर के गर्भगृह में स्थित घुमावदार विशालकाय शिवलिंग की मूर्ति को देखकर वह विस्मय विमुग्ध होकर चकित रह गया। उस शिवलिंग की बनावट से उसकी आंखें चौंधिया गयीं। सोमनाथ मंदिर दस हजार गांवों से पोषित और पालित विशालकाय मंदिर था। राजाओं, धनिकों, भक्तों द्वारा दान में दिये गये हीरे, मोती, जवाहिरात, सोना, चांदी से बनी सुवर्ण प्रतिमायें, मोती जड़े अद्भुत चित्ताकर्षक आभूषण आदि से मंदिर का कोषागार भरा पूरा था।

प्रत्येक सूर्यग्रहण के दिन, लाखों श्रद्धालु हिन्दू लोग समुद्र स्नान करने के उपरांत भक्ति भाव से मंदिर में इकट्ठा होते थे। सोमनाथ मंदिर में सैकड़ों पुजारी लोग थे, पूजाकाल के समय मंदिर के अहाते में एक विशालकाय प्रांगण में पांच सौ नर्तकियां भगवान शिवजी के सामने भक्ति भाव से नृत्याभिनय करती थीं। वे मंदिर की ओर से तैनात थीं। इसी प्रकार भक्तिगीत गानेवाले पांच सौ गायक कलाकार एवं कलाविद भी नियुक्त थे। लोगों का विश्वास था कि प्रतिदिन दो बार सागर की बड़ी-बड़ी एवं ऊंची-ऊंची लहरें उठकर मंदिर की सीढ़ियों को छूकर वंदना कर वापस लौट जाती थीं। यह पुनीत तीर्थस्थल भारत का महान गौरव माना जाता था।

इस जाज्वल्यमान गरिमामय गौरवशाली एवं महिमामंडित प्रसिद्ध सोमनाथ मंदिर को दूर से ही अपने घोड़े पर बैठे बैठे सेना के आगे खड़े-खड़े मंदिर की भव्यता एवं शोभा को विस्फारित नेत्रों से बड़े विस्मय और कौतूहल से देख गजनवी अपने कौतूहल को वश में कर न सका। उसने अपनी सेना को आगे बढ़ने का आदेश दिया। मंदिर के कर्मचारी, भक्तलोग, पुजारी, गांव के हजारों भक्तगण आदि रोते-चिल्लाते बड़े आक्रोश के साथ गजनवी की सेना का सामना करने लगे। गजनवी की आंखें इस प्रतिरोध की वजह से क्रोध से लाल होने लगी। 'सामना करने वालों का सिर उड़ा दो' का गर्जन करते हुए वह आगे बढ़ने लगा। हजारों तलवारें घूमने लगीं। लोगों के सिर काटते हुए उसकी सेना आगे बढ़ी। उस दिन सोमनाथ मंदिर के सामने पांच हजार से भी ज्यादा लोग मरे पड़े थे। इस भीषण और आक्रोश भरे

आक्रमण के बाद विजयी गजनवी की सेना मंदिर के अंदर प्रवेश कर गयी। उन्मत्त पागल की भांति सैनिक मंदिर की सुवर्ण मूर्तियों, कीमती आभूषणों को बटोरकर गठरियों में बांधकर ले गये। शिवलिंग की विशालकाय निराधार मूर्ति की चकाचौंध से भ्रमित एवं चकित गजनवी की कुदृष्टि उस पर पड़ी और अपने तीखे भालों से शिवलिंग को घुमाने लगा। सैनिक शिवलिंग को तोड़कर चूरचूर कर उसे उठाकर मंदिर के बाहर के परिसर में फेंकने लगी। गजनवी की सेना खुशी से उछलकूद मचाते हुए नाचने लगी। सोमनाथ मंदिर पर हुए इस अत्याचारपूर्ण कुकृत्य को बड़े विस्तार से तथा बड़े दुख और वेदना के साथ वर्णन करते हुए लिखने वाले इतिहासकार अलकासविनी नामक अरब के इतिहासकार थे।

अपना कुकृत्य पूरा करने के बाद बड़ी तृप्ति और उत्साह के साथ गजनवी अपने देश वापस लौट चला। सोमनाथ मंदिर से लूटकर ले गये सुवर्ण का वजन लगभग 6 टन से ज्यादा माना जाता है। न केवल अल्कासविनी, बल्कि अनेक इस्लामी इतिहासकारों ने गजनवी के इस दुराग्रपूर्ण कुकृत्य का उल्लेख किया है कि 'अनावश्यक रूप से एवं अमानवीय ढंग से गजनवी ने यह लूट कसोट किया है जो मानव के इतिहास का बड़ा काला धब्बा है। गजनवी के मन में साम्राज्य की स्थापना करने का विचार बिल्कुल नहीं था। उसे तो भारत की अपार संपत्ति को लूटना था। अतः उसके इस कृकृत्य एवं अत्याचार और अनाचारों का समर्थन किसी ने नहीं किया। संक्षेप में कहा जाय तो वह एक पागल कुत्ते की भांति व्यवहार करनेवाला अत्याचारी, क्रूर, हत्यारा लुटेरा मात्र था। इस विचार में दो मन नहीं।'

भारत से लूटकर ले गये इस अपार संपत्ति से उसने अपने शहर गजनवी को एक अच्छे आकर्षक शहर के रूप में परिणत करने में लगाया था। वहां उसने बहुत सुन्दर एक पुस्तकालय एवं संग्रहालय का निर्माण किया। उसके दरबार में कविगण, गायक कलाकार, चित्रकार आदि मिलकर उसकी प्रशंसा में कवितायें, गीत आदि रचकर उसे प्रसन्न करते थे। फिरदौसी, अलबरूनी जैसे विख्यात इतिहासकार, लेखकों को वह अपने पास रखता था। वे भी उसके आश्रय में रहकर खुश थे। हां, इस क्रूर अत्याचारी आक्रमणकारी का यह दूसरा पक्ष था।

उत्तर पश्चिम दिशा से गजनवी जब भारत के अंदर प्रवेश कर आक्रमण कर रहा था, उसी समय एक बड़ा साहसी वीर शासक भारत की दक्षिण दिशा से निकलकर अपनी बड़ी सेना सहित उत्तर भारत की ओर आया था। उसकी वीरता और साहस का सामना उस समय कोई नहीं कर सका। आज के हैदराबाद, उड़ीशा, बंगाल आदि प्रदेशों के शासक उसकी वीरता और साहस को मानने लगे। गंगा नदी के पवित्र जल को घड़ों में भरकर, हारे हुए राजाओं के सिरों पर रखकर वह अपने प्रदेश को ले गया। वह साहसी वीर और कोई नहीं, तमिल प्रदेश का प्रसिद्ध चोलवंश का शासक राजेंद्र चोलन था।

भारत के उत्तर पश्चिम में गजनवी के आक्रमण के लिए भारत के अंदर प्रवेश कर गए क्रूर, अत्याचारी गजनवी का समाचार निश्चय ही अपने जासूसों द्वारा राजेंद्र चोलन को मालूम हुआ होगा। लेकिन राजेंद्र चोलन का विचार दूसरा ही था। वह समुद्री जहाजों द्वारा यात्रा कर मलेशिया, सुमात्रा, जावा, इंडोनेशिया आदि दक्षिण पूर्वी एशिया के द्वीपों को अपने वश में करना चाहता था।

इसी प्रकार, दक्षिण भारत से एक महायोद्धा शासक गंगा नदी तट तक आकर विजयी बना है, इसकी जानकारी भी, जासूसों के माध्यम से गजनवी के कानों तक पहुंच ही गयी होगी। उसने सोचा होगा कि सिन्धु नदी को पार कर आना ही पर्याप्त है। उस राजा के सैनिक बल को जाने बिना क्यों गंगा नदी पार कर जावें। अतः गजनवी ने अपना पूरा ध्यान उत्तर-पश्चिम प्रदेशों तक ही रखा। इतिहास बताता है कि गजनवी और राजेंद्र चोलन् ये दोनों युद्ध क्षेत्र में आमने-सामने मिले बगैर ही वापस चले गये।

अफगानिस्तान वापस लौटते ही भयंकर जहरीले रोग से पीड़ित होकर महमूद गजनवी ई. सन् 1030 में गुजर गया। ■

गुरु क्रुपा
790 डॉ. ए. रामास्वामी सलाय
के.के. नगर (पश्चिम)
चैन्नै-600078 (तमिलनाडु)
मो.- 9444763055, 9840848559

वैदिक युग में गणतंत्र

प्रो. योगेशचन्द्र शर्मा

अत्यंत प्राचीनकाल, वैदिक युग में भी हमारे यहां गणतंत्रीय व्यवस्था रही और उन दिनों उसे एक सफल शासन पद्धति के रूप में स्वीकार किया जाता था। 'गण' शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में छियालीस बार, अथर्ववेद में नौ बार तथा ब्राह्मण ग्रंथों में अनेक बार हुआ है। प्रारम्भ में 'गण' का अर्थ एक ही परिवार के सदस्यों के समूह से लिया जाता था। उदाहरणार्थ– वैदिक साहित्य में मरुतों का उल्लेख बार-बार 'गण' के रूप में किया गया है। नौ-नौ समूह में बंटे हुए ये तिरेसठ मरुत (ऋग्वेद 8-96-9) एक ही पिता रुद्र की संतान थे। कालान्तर में जब परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ने लगी तो परिवार के स्थान पर सम्पूर्ण कुल के सदस्यों को 'गण' में सम्मिलित किया जाने लगा और फिर आगे चलकर इसमें कुछ और भी उदारता का समावेश हुआ। तदनुसार महाभारत के आदि पर्व में छः गणों का उल्लेख हुआ– रुद्र, साध्य, मरुत, वसु, आदित्य और गुह्यक। वायु पुराण में यक्ष, गंधर्व, किन्नर और विद्याधरों के गणों की चर्चा की गई है (2-8-11)। इसी पुराण में दस हजार दैत्यों के सैहिकेय नामक गण का भी उल्लेख है (7-17-21)। भागवत पुराण में यवन, पारद, कांबोज, पहलव तथा शकों के गणों की चर्चा है, जिन्हें राजा सगर ने नष्ट किया। गण तथा जनपद प्रारम्भ में मातृसत्तात्मक थे, लेकिन वैदिक युग में ही इनका स्वरूप पुरुष सत्तात्मक हो गया। पुरुषों की प्रधानता के बावजूद, वैदिककाल में स्त्रियों का समान अधिकार बना रहा। वे न केवल सामाजिक और प्रशासनिक क्षेत्रों में ही, अपितु युद्ध के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं। आक्रमणकारी के विरुद्ध जब गण के लोग युद्धरत होते तो उसमें स्त्रियां भी सक्रिय भाग लेतीं।

प्राप्त उल्लेखों के अनुसार ऐसा पता चलता है कि वैदिक युग के प्रारम्भ में अधिकांश गण या जनपदों में कोई राजा नहीं होता था। गण के सभी व्यक्ति मिल-जुलकर स्वयं अपने शासन का संचालन करते। इस प्रकार सही अर्थों में यह गंणतंत्रीय व्यवस्था थी। ऋग्वेद की एक ऋचा (10-97-6) के अनुसार, सभा में बैठने वाले सभी व्यक्ति राजा होते थे। दूसरे अर्थों में ये सभी मिलकर अपने क्षेत्र का शासन संचालन करते थे। यह संभव है कि कुछ बड़े क्षेत्रों में सभा में बैठने वाले ये राजा स्वयं जनता न होकर, जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि हों। आगे चलकर जब जनसंख्या बढ़ी तो राजाविहीन इन राज्यों में अनेक प्रकार की कमियों को महसूस किया जाने लगा। तब धीरे-धीरे राजा का पद प्रारम्भ हुआ, जिसे विभिन्न गणों में 'गणपति' कहा गया।

राजाविहीन प्रारम्भिक जन-समुदायों को हमारे यहां वैराज्य की संज्ञा दी गई है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (6-1-2) के अनुसार वैराज्य कहे जाने वाले कुछ स्थानों पर राजापद नहीं था और इनके लोग अपना-पराया नहीं जानते थे। इन प्रारम्भिक जन-समुदायों में सुखी जीवन की चर्चा अनेक स्थानों पर की गई है। मगर बाद में जब जनता ने सामूहिक स्वधर्म के पालन को

त्याग दिया तो आपसी झगड़े-फसाद बढ़ने लगे। महाभारत के शांतिपर्व (67-14-15) में इस स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है–'एक व्यक्ति का धन दो व्यक्ति छीनते हैं और उन दोनों का धन अनेक व्यक्ति मिलकर छीन लेते हैं। जो दास नहीं है, उसे दास बनाया जाता है। स्त्रियों का बलात् अपहरण किया जाता है। इस स्थिति के निवारण हेतु लोग राजा की तलाश करते हैं और उसे अपनी सम्पत्ति का एक हिस्सा देने तथा कुछ अन्य वायदे करके अपना राजा बना लेते हैं। राजा भी अपनी तरफ से यह वायदा करता है कि स्वधर्म, वर्णधर्म और आश्रम धर्म की स्थापना करूंगा और राजदंड से उन्हें क्रियान्वित करूंगा।' यह प्रथम राजा कौन था, इसके बारे में अनेक उल्लेख देखने को मिलते हैं। कहीं पर मनु को प्रथम राजा बतलाया गया है तो कहीं पर पृथु को। मनु के नाम से मानव जाति बनी और पृथु के नाम से हमारी धरती का नाम पृथ्वी पड़ा। एक अन्य स्थान पर बिरजस् नामक व्यक्ति के भी प्रथम राजा होने की बात आई है (शांतिपर्व अध्याय, 58)। राजा कोई भी क्यों न बना हो, यह स्पष्ट है कि वह बना जनता की सहमति से ही। वैदिक युग की लगभग सभी कथाओं से इस तथ्य को बल मिलता है। एतरेय ब्राह्मण की एक कथा के अनुसार, स्वयं देवराज इन्द्र भी देवताओं द्वारा निर्वाचित राजा थे। उन दिनों देवताओं तथा असुरों में प्रायः युद्ध हुआ करते थे, जिनमें अधिकांशतः देवताओं की स्थिति ही कमजोर रहती। जब उन्होंने इस विषय पर विचार किया तो इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि उनकी पराजय का मुख्य कारण राजा का न होना है। तभी उन्होंने इन्द्र को इस पद के लिए चुना।

'राजा' शब्द की व्युत्पति जनता का रंजन करने वाले के अर्थ में हुई। तदनुसार राजा से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह सदैव जनता के हित के कार्य करेगा। उसे जनता का प्रथम सेवक माना जाता था। एतरेय ब्राह्मण में राजा के ये शब्द उल्लेखनीय हैं– 'यदि मैं जनता के प्रति द्रोह करुं तो मैं अपने जीवन, पुण्य कर्म और अपनी संतान सबसे वंचित किया जाऊं।' जनता से द्रोह करने वाले ऐसे अनेक राजाओं का उल्लेख भी प्राचीन साहित्य में है, जो बाद में नष्ट हो गये, यथा- बेन, नहुष, सुदास, यावनि आदि। महाभारत के शांतिपर्व में भी राजा के लिए सर्वभूत हित रतः की बात कही गई है। जनहित के लिए राजा का इन्द्रियजीत होना आवश्यक था। इसीलिए चाणक्य सूत्रों के चौथे सूत्र में कहा गया है- 'राज्य मूलं इन्द्रिय जयः'।

प्राचीन साहित्य में हमें इस प्रकार के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं, जहां पर गणतंत्र व्यवस्था राजतंत्र में अथवा राजतंत्रीय व्यवस्था गणतंत्र में परिवर्तित हो गई। उदाहरणार्थ वैदिककाल में विदेह में राजतंत्र था, लेकिन बौद्ध साहित्य में इसे गणतंत्र कहा गया। इसी प्रकार महाभारत युद्ध के समय कुरु जनपद में राजतंत्र था, लेकिन कौटिल्य के युग में वहां गणतंत्र स्थापित हो गया। उत्तर कुरु तथा उत्तर मद्र जनजातियों में मूलतः वैराज्य था। फिर इनमें राजतंत्र स्थापित हुआ और बाद में गणतंत्र।

जनसभा के रूप में वैदिक साहित्य में जिस संस्था का सर्वप्रथम वर्णन मिलता है, वह है– 'विदथ'। इसे विश्व की सर्वप्रथम व्यवस्थापिका कहा जा सकता है। 'विदथ' शब्द का ऋग्वेद में एक सौ बाईस बार तथा अथर्ववेद में बाईस बार प्रयोग हुआ है। कालांतर में इस शब्द का उल्लेख शनैः-शनैः कम होता चला गया तथा इसका स्थान सभा और समिति ने ले लिया। यह संस्था 'विदथ' उन दिनों विशेष चर्चित थी, जब गणपति या राजा के पद का स्वरूप बहुत स्पष्ट नहीं हो पाता था। फिर भी 'विदथ' का कोई नेता अवश्य हुआ करता था। पुरोहित तथा कुछ अन्य पदाधिकारी भी थे, जिनके निर्वाचन का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। इस संस्था में बुजुर्ग व्यक्तियों को विशेष सम्मान प्राप्त था। महिलाएं भी विदथ में सक्रिय भूमिका निभाती थीं। विदथ युद्ध, वितरण तथा धर्म आदि से संबंधित मामलों पर विचार करती और निर्णय लेती थी। विदथ शब्द संस्कृत की विद् धातु से बना प्रतीत होता है। इससे इसका विद्वत्ता से सीधा संबंध स्थापित हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि विदथ में केवल विद्वानों को ही सम्मिलित किया जाता था। संभव है, जन प्रतिनिधित्व की धारणा भी उनके साथ किसी रूप में जुड़ी हुई हो।

सभा और समिति विदथ से बाद की संस्थाएं हैं। सभा अपेक्षाकृत छोटी संस्था थी और इसमें कुलीन वर्ग के विशिष्ट व्यक्तियों की ही उपस्थिति का उल्लेख मिलता

है। 'सभा' का वर्णन ऋग्वेद के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों अंशों में है, जबकि 'समिति' का वर्णन केवल उत्तरार्द्ध में। वहां भी प्रारम्भिक अंशों में सभा और समिति के बीच कोई स्पष्ट अंतर पढ़ने को नहीं मिलता। लेकिन कालांतर में यह अंतर स्पष्ट होता चला जाता है। समिति, सभा की तुलना में एक बड़ी संस्था थी। उसमें सभी वयस्क व्यक्तियों अथवा कुलपतियों की उपस्थिति की जानकारी मिलती है। यह भी संभव है कि प्रारम्भिक दिनों में ये दोनों संस्थाएं एक ही रही हों और उसे 'सभा' कहा जाता हो। कालांतर में जब 'सभा' को केवल कुछ विशिष्ट व्यक्तियों तक ही सीमित किया जाने लगा तो जनसाधारण की एक अलग संस्था 'समिति' के नाम से विकसित हो गई हो। तथ्यों को देखते हुए इसी की सम्भावना अधिक दृष्टिगत होती है।

जहां तक कार्यक्षेत्र का संबंध है, इन दो संस्थाओं के बीच में कोई विशेष अंतर पढ़ने को नहीं मिलता। दोनों ही संस्थाओं को वेदों में प्रजापति की संतान कहा गया है। धार्मिक, राजनीतिक तथा अन्य सभी विषयों पर दोनों ही संस्थाओं में विचार विनिमय होता था। लेकिन न्यायिक शक्तियां केवल सभा के पास थीं। ऋग्वेद की एक ऋचा (10-71-10) के अनुसार यह एक ऐसी संस्था थी, जो अभियोग लगाकर लोगों का कलंक मिटाती थी। वस्तुतः सभा का यह न्यायिक स्वरूप ही उसकी विशिष्टता को उभारता है। समाज के धनी और प्रभावशाली व्यक्तियों को भी सभा के निर्णय को स्वीकार करना पड़ता था (अथर्ववेद 7-12-3)। सभा की विशिष्टता जहां उसके न्यायिक स्वरूप में थी, वहां 'समिति' की विशिष्टता इस बात में थी कि राजा का चुनाव समिति द्वारा ही किया जाता था। स्पष्ट ही इसका कारण उसमें जन-प्रतिनिधित्व होना था। इन दोनों ही संस्थाओं में स्वतंत्रता के साथ वाद-विवाद होता था तथा उनका निर्णय राजा के लिए बाध्यकारी होता था। इसीलिए राजा यह कामना करता था–

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुर्हिरौ संविदाने।
येना संगच्छां उप मा स शिक्षाच्चारू वदानि पितरः *संगतेषु।। (अथर्ववेद 7-1-63)।* अर्थात् सभा और समिति प्रजापति की पुत्रियां हैं। वे मेरी रक्षा करें। वे मुझे उत्तम शिक्षा (उचित परामर्श) दें। संगत में एकत्रित हुए पितर लोग (कुलपति या वृद्ध) समुचित भाषण करें।

अर्थववेद में सभा के लिए एक दूसरा नाम 'नरिष्टा (7-12-2) भी है, जिसका अर्थ ऐसे संकल्प से है, जो तोड़ा न जा सके। यह तथ्य भी सभा और समति के निर्णय की बाध्यता तथा उनकी एकता को प्रमाणित करता है। सामान्यतः तो ये दो संस्थाएं समान रूप से शक्तिशाली मानी गई हैं, लेकिन यदि दोनों के निर्णयों में कहीं विरोध हो और ये किसी समझौते पर न पहुंच सकें तो अधिक बड़ी और जन-प्रतिनिधि होने के कारण समिति के ही अधिक महत्वपूर्ण होने का संकेत है।

वैदिक युग में नागरिक व्यवस्था पांच भागों में विभक्त थी। सर्वप्रथम 'कुल' था, जो एक ही परिवार का विस्तृत रूप होता था। उसके मुखिया को कुलपति या कुलवृद्ध कहा जाता था। रक्त संबंध में बंधे अनेक कुल, ग्राम बनाते थे। इसका मुखिया ग्रामीण या ग्राम-वृद्ध होता था। अनेक ग्रामों के समूह को 'विश' कहा जाता और इसके मुखिया को 'विशपति' की संज्ञा दी जाती थी। बहुत से विश मिलकर अपना एक जन बनाते और उसके प्रधान का चुनाव करते। अनेक जनों को मिलाकर जनपद, राज्य, राष्ट्र या गण का निर्माण होता। इन राज्यों में शक्ति का विकेंद्रीकरण होता तथा स्थानीय अधिकारियों को अनेक शक्तियां प्राप्त होतीं।

वैदिककाल के उत्तरार्द्ध में हमें रत्नियों का भी उल्लेख मिलता है, जो मिलकर राजा के लिए एक प्रकार की कार्यकारिणी का निर्माण करते। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ये रत्नी इस प्रकार थे– (1) सेनानी (सेनापति), (2) पुरोहित, (3) अभिषिक्त होने वाला राजा, (4) राजमहिषी, (5) सूत (राजनीतिक घटनाओं को स्मरण रखने वाला), (6) ग्रामणी, (7) क्षत्रिय (सैनिकों का प्रतिनिधि), (8) संगृहीता (राज्यकोश का अधिकारी)., (9) भागदुध (कर वसूल करने वाला), (10) अक्षवाय (आय-व्यय का हिसाब रखने वाला), (11) गोविकर्ता (जंगल विभाग का अधिकारी), (12) पालागल (संदेश भेजने वाला)। यही रत्नी राज्य के मुख्य पदाधिकारी भी होते थे। ■

10/611- कावेरी पथ, मानसरोवर,
जयपुर-302020 (राज.)
मो. 9828662214

*राजस्थान के शिक्षा विभाग में वरिष्ठ अध्यापक **श्री ललित शर्मा** की इतिहास एवं पुरातत्व से संबंधित खोज एवं लेखन में गहन अभिरुचि है। इतिहास-पुरातत्व इनके लिए एक मिशन है जिसमें ये निरंतर लगे रहते हैं। आप महाराणा कुंभा पुरस्कार सहित दो दर्जन सम्मानों से सम्मानित हो चुके हैं। यहां **झालावाड़ के इतिहास-पुरातत्व से संबंधित दो प्रमुख स्त्रोत** के अंतर्गत आपके दो लेख प्रस्तुत हैं।*

झालावाड़ की प्राचीन मूर्तिकला

राजस्थान स्थित झालावाड़ जिले के विभिन्न कस्बों, ग्रामों और नगरों के प्राचीन देवभवनों व ऐतिहासिक स्थलों में कई मतों की प्राचीन व मध्ययुगीन मूर्तियों का ऐसा अनुपमेय भण्डार है जो भारतीय मूर्तिकला और शिल्प की श्रेष्ठतम कृतियां है। इस क्षेत्र में शुंगकाल से लेकर वर्तमान काल तक की मूर्तिकला परम्परा आज भी सुदीर्घ रूप में जीवन्तता के साथ देखी परखी जा सकती है। प्रस्तुत आलेख में कुछ उत्कृष्ट देवमूर्तियों का विवरण प्रस्तुत है, जो मूल्यांकन की दृष्टि से अछूता रहा है।

जिले के **गंगधार कस्बे के टीले का पुरातात्त्विक उत्खनन** मालवा के पुरातत्वविद् डॉ. श्यामसुन्दर निगम ने किया था। उन्हें उत्खनन के दौरान यहां के शुंगकालीन स्तर के टीले से एक सुन्दर मानव मस्तक मूर्ति मिली थी और उसी के साथ मूर्ति निर्माण के पूर्व का रेखांकन भी, जो चुनार प्रस्तर पर द्विआयामी रूप से रेखांकित किया हुआ था। इस मूर्ति का काल ईसा की दूसरी सदी माना गया। मूर्ति के रेखांकन पर वस्त्राभूषण विदेशी था, जिसके उर्ध्व आवरण पर मिस्र का व अधोआवरण पर रोमन प्रभाव द्रष्टव्य था। ईसा की 5वीं सदी में गंगधार में विष्णु मंदिर व तांत्रिक शाक्त मत का मातृदेवी मंदिर प्रसिद्ध था जिसमें मातृकाओं की मूर्तियां प्रतिष्ठित होना माना जाता है। जिले के **खानपुर कस्बे के चांदखेड़ी जैन देवालय** के भूगर्भ में प्रतिष्ठित तीर्थंकर आदिनाथ की सुन्दर और मनोज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठित है। मूर्ति की एक भुजा पर संवत् 512 का अंकन होना इसकी प्राचीनता का बोध कराता है। कला की दृष्टि से यह मूर्ति इतनी अधिक मनोज्ञ है जो बाहुबली की मूर्ति के उपरान्त भारत की दूसरी मनोज्ञ प्रतिमा मानी जाती है। 6 x 25, गुणा 5, नाप की इस विशाल मूर्ति को कलाकार ने पद्मासनावस्था तथा बद्धपद्मांजलि मुद्रा में बनाया था।

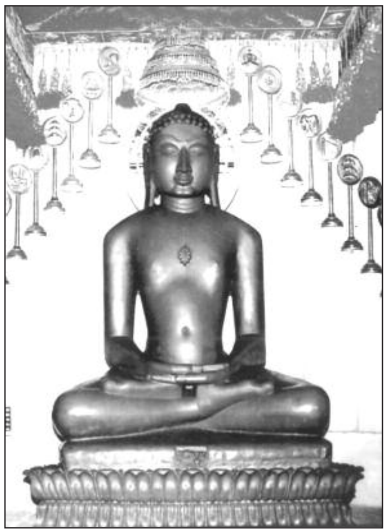

मूर्ति के अधर, खुलेनेत्रों व धनुषाकार भौहों का अंकन अत्यन्त मनमोहक है। जिले के डग की कोल्वी की गुफाओं को अलेक्जेन्डर कनिंघम ने 7वीं से 9वीं सदी के मध्य की बताया है। इन गुफाओं की पूर्वी दीवार पर बुद्ध की शिक्षण देने की 12 फीट की खड़ी पाषाण प्रतिमा उकेरी हुई है जिसमें बुद्ध का एक हाथ शिक्षण देने की मुद्रा में वक्ष पर रखा है। यह दृश्य बौद्धधर्म के संदेश देने की बुद्ध की शिक्षण मुद्रा को जीवन्त कर देता है।

जिले की झालरापाटन नगरी के निकट स्थित **चन्द्रावती नगरी में चन्द्रमौलीश्वर शिव** का अतिसुन्दर महालय है। इसके गर्भगृह की ललाट पट्टिका पर लकुलीश की सुन्दर लघुमूर्ति पाशुपत मत का सुन्दर उदाहरण है। मंदिर के द्वार के नीचे दोनों ओर गंगा-जमुना की दो सुन्दर मूर्तियां द्रष्टव्य है।

अर्द्धनारीश्वर

चामुंडा नवग्रह

यह मंदिर समूचे उत्तरी भारत का, कला की दृष्टि से सबसे अधिक अनोखा तथा समूचे राजस्थान का एकमात्र तिथियुक्त मंदिर है। यहां से प्राप्त अर्द्धनारीश्वर की अद्वितीय मूर्ति कवि कालिदास के शिव-पार्वती के सुन्दर सृष्टि समन्वय 'पार्वती-परमेश्वरों' का जीवन्त चित्ताकर्षक प्रमाण है। यह मूर्ति 8वीं सदी की है। चन्द्रावती से प्राप्त दसवीं सदी की शाक्त प्रतिमा चामुण्डा-नवग्रह मूर्ति भारतीय मूर्तिकला की देवी प्रतिमाओं में एक मात्र ऐसा सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है कि इसमें चामुण्डा ने नवग्रह रूपी ब्रह्माण्ड को ही अपनी दोनों भुजाओं में उठाया हुआ है। यहां से प्राप्त सूर्यनारायण, वराह, गणेश, काली, विष्णु आदि की मूर्तियां भारतीय संस्कृति की गौरवशाली निधियां हैं। यहां के काली मंदिर में 7वीं-8वीं सदी की संरक्षित नटराज शिव की विशाल मूर्ति उत्तरी भारत की नटराज मूर्तियों में अद्वितीय है। नटराज शिव की इस भग्नधड़ व पैर वाली मूर्ति का एक पैर 'समपाद' स्थिति में है व बायें हाथ की 'करहस्त' मुद्रा तथा दूसरे पैर की उठती अंगुलियों की गति देखने योग्य है। नटराज की सोलह भुजाऐं अनेक आयुध धारण किये हुए है। शिव की तीन भुजाओं के जोड़े उरोमण्डल में है। पार्वती आश्चर्य और भय से शिवनृत्य को देख रही है। शिव के खुले मुख में बाहर निकली दन्तपंक्तियां उनका घोर स्वरूप प्रकट करती है। इस मंदिर के पृष्ठ में गुप्तयुगीन दो देवालय मूर्तिकला की दृष्टि से चित्ताकर्षक है। मंदिर के प्रवेश द्वारों की शाखाएं अलंकरणयुक्त है। इनके निचले हिस्से पर गंगा-जमुना व नदी देवों की लघुमूर्तियां हाथ में पूर्ण कुम्भ तथा जल जीव लिये त्रिभंग मुद्रा में खड़ी है। यहां विष्णु के परिकर शंखपुरुष व चक्रपुरुष की सुन्दर मूर्तियों का अंकन है। इन मूर्तियों की कमनीयता, गहराई से कटाई व अलंकरण युक्त कौशल अत्यन्त प्राणवान है।

नटराज

जिले की **अकलेरा तहसील के दलहनपुर ग्राम का तंत्रमठ** प्राचीन शैव तंत्र साधना व मूर्तियों का अकूत खजाना है। यहां के मूर्तिशिल्प में प्राण, रस, वाणी और वैभव के समन्वित दर्शन होते है। यहां के स्तम्भों व मठ के मूर्तिशिल्प में स्त्री पुरुष युग्मों का शरीर सौष्ठव व अंग-विन्यास खजुराहों की कला और कमनीयता से कम नहीं है। यहां कपालमुख तांत्रिकों की प्राचीन मूर्तियों में से एक नरमुण्ड वाली मूर्ति के आसपास चार अन्य नरमुण्ड बने हुए है। वहीं अन्य मूतियों में यहां नारी का दर्पण निहारते हुए, पैर से कांटा निकालते हुए व केश ग्रन्थियों को विभिन्न तरीको से संवारते हुए उकेरा गया है। यहां अनेक देवों की सपत्नीक सुन्दर लघु मूर्तियां भी स्तम्भों पर अंकित है।

झालरापाटन का दसवीं सदी का सूर्य मंदिर प्राचीन मूर्तिकला का सुन्दर खजाना है। यहां शैव-शाक्त और वैष्णव मत की देव मूर्तियों का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। मंदिर के पीछे की मुख्य ताक में सूर्यदेव की एक मात्र घुटनों तक जूते पहने स्थानक मूर्ति विदेशी प्रभाव को प्रकट करती है। मंदिर के गर्भगृह के बाह्यस्थान की शुकनाशा के

सूर्य मंदिर में अप्सरा

ठीक नीचे शिव की दक्षिणा मूर्ति शिव के नृत्य शिक्षक स्वरूप की श्रेष्ठ प्राचीन मूर्ति है। इस सुन्दर मूर्ति में शिव न केवल हर्षोल्लास से नृत्य कर रहे है, अपितु देवों और ऋषियों के सम्मुख नृत्यकला का सायास प्रदर्शन कर रहे हैं, उनके दक्षिण हस्त की मुद्रा से यह स्पष्ट होता है। मूर्ति के निकट ब्रह्मा तथा विष्णु उनके शिष्यों के रूप में नृत्य को आदर भाव से नमस्कार मुद्रा में खड़े होकर देख रहे हैं। दस भुजाधारी शिव का एक वाम हस्त कटिहस्त मुद्रा में, अन्य भुजाएं उरोमण्डल निर्मित करती हुई व सिर पर सर्प को दोनों हाथों में पकड़े हुए एवं छत्र का आभास देते हुए उत्कीर्ण हैं। शिव की ऐसी दक्षिणा मूर्ति मत्स्यपुराण के निर्देशक तत्वों की अनुपालना से बनी है। इसी मंदिर के उत्तरी भाग में वीणा एवं वंशीधारी गन्धर्व की एवं दक्षिण भाग में नरसिंह व हिरण्यकशिपु का सुन्दर मल्लयुद्ध, मूर्तिकला का सुन्दर उदाहरण है। मंदिर के गर्भगृह की उतरांग पट्टिकापर सप्तमातृका की मूर्तियों के अंकन के कारण व गर्भगृह के बाहर चारों और सात-सात सुरलियों के होने से इसे 'सप्त सुरलियों' का मंदिर भी कहा जाता है। मंदिर के अन्तराल में एक ओर शिव-पार्वती व दूसरी ओर विष्णु-लक्ष्मी की युगल मूर्तियां होना शैव-शाक्त-वैष्णव मत का सुन्दर समन्वय है। मंदिर के मेरुश्रेणी के मण्डोवर में देवों के साथ सुर-सुन्दरियों, अप्सराओं की नृत्यमुद्रा में मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। इसकी पीठ में कीर्तिमुख व अन्य थर बने हुए हैं। कीर्तिमुखों का अंकन मंदिर के अशुभ निवारण हेतु किया जाता है। मंदिर के मध्य की स्तूपाकृति के उत्तर-दक्षिण में नागा साधुओं की सुन्दर व आदमकद मूर्तियां मुंह बोलती प्रतीत होती हैं। साधुओं की इन ध्यानावस्था मूर्तियों के हाथ में मणिमाला, गले के रुद्राक्ष, दाढ़ी-मूंछें, जटा-जूट हैं। इन साधुओं की आंखों की भौहें एवं अंगुलियों के नाखून मूर्तिकार की जीवटता एवं गम्भीरता के उत्कृष्ट प्रमाण हैं, जिसे देखकर विदेशी वास्तुविद् भी चकित रह जाते है। ये

जैन यक्षी चक्रेश्वरी

जैन पद्मावती

मूर्तियां रंगपाटन से लाकर यहां स्थापित की गई थी। यहीं के शांतिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर में 11 फुट की खड़गासन में तीर्थंकर शान्तिनाथ की प्राचीन और सुन्दर मूर्ति, शिल्पकला की मुंह बोलती कृति है। इसके मुख से शान्ति और तप के भाव प्रकट होते हैं। इस देवालय में शासनदेवी के रूप में अष्टबाहू चक्रेश्वरी देवी की चित्ताकर्षक मूर्ति का शिल्प तो देखते ही बनता है।

झालावाड़ के राजकीय संग्रहालय में जिले के कई ग्रामों कस्बों से अनेक मतों की अवाप्त प्राचीन और मध्ययुगीन मूर्तियों का सुन्दर संग्रह है। इनमें असनावर के निकट प्राचीन रंगपाटन स्थल से प्राप्त 10वीं सदी की हरिहरपितामार्तण्ड, मार्तण्ड भैरव, अन्धकासुरवध, कुबेर, इन्द्र, अग्नि, कीचक, कृष्णजन्म, पूतनावध, सपत्निक नाग आदि मूर्तियां प्राचीन मूर्तिकला की सुन्दर कृतियां हैं। इन पर आज तक कोई शोध कार्य नहीं हो पाया है। इनमें से यहां प्रदर्शित कुछ विशिष्ट देव मूर्तियों का पुरातात्विक कला परिचय इस प्रकार है–

यहां के सख्यांक 7 पर प्रदर्शित 9वीं सदी की शिव नटराज की 34 x 27 सेमी माप की अष्टभुजी मूर्ति में उत्तरी भारत की नटराज नृत्य मूर्तियों की समग्र विशिष्टतायें है। इसमें नटराज शिव अपनी दोनों मुख्य भुजाओं को उरोमण्डल में ले जाते हुए, उनमें सर्प को पकड़े हुए हैं। उनके दायें तीन करों में वीणा एवं वस्त्र है जबकि एक कर विपरित दिशा में झुक हुआ उनकी बायीं जंघा को स्पर्श करते प्रदर्शित है। उनके बायें कर की अभयमुद्रा विशिष्टता लिये हुए है जबकि शेष दो करों में से एक में कमलपुष्प व एक कर नीचे की ओर है। मूर्ति में नटराज का बायां चरण इस प्रकार उठा है कि उसमें अंगूठा मात्र ही धरती को स्पर्श कर रहा है जबकि दायां चरण पृथ्वी पर समपाद मुद्रा में है। उनके शीश के जटा जूट पर किरीट मुकुट, ग्रीवा में हार, हाथों में कड़े तथा आवक्ष वस्त्र है। नटराज शिव की इस सुन्दर मूर्ति में उनके कर में वीणा का अंकन दक्षिणी प्रभाव का परिचायक माना जा सकता है। इस मूर्ति के चरणों के पार्श्व में मृदंग वादक और बांसुरी वादक का अंकन है।

संग्रहालय के सख्यांक 42 पर प्रदर्शित 10वीं सदी की नृवराह की एक उल्लेखनीय मूर्ति राजस्थान की नृवराह मूर्तियों के प्रतिनिधित्व वाली मूर्ति है। इस मूर्ति की सर्वाति

अष्टभुजी महिषासुरमर्दिनी, झालावाड़ संग्रहालय

नटराज शिव, झालावाड़ संग्रहालय

विशिष्टता यह है कि यह मूर्ति शरीर की विरोधी दिशाओं की गति में संतुलन स्थापित करने का भावमिश्रित कलात्मक अंकन लिये है। इस मूर्ति में भूदेवी (पृथ्वी) भी इस संतुलन को रखती हुयी अंकित की गयी है। मूर्ति में शूकरमुखी नृवराह आलीढ़ मुद्रा में खड़े हैं तथा उनके दायें चरण के नीचे सर्प युगल का प्रर्दशन है। यहां उनका दक्षिणाध कर वस्त्रधारी तथा दोनों उर्ध्वकर गदा एवं चक्र

से युक्त तथा वाम जंघा के पास पदमपीठ पर खड़ी भूदेवी को आश्रय दिये हुए है। नृवराह के उभय पार्श्वों में अनुचर तथा फलक के शीर्ष पर मालाधारी विद्याधर प्रदर्शित हैं। नृवराह की यह मूर्ति आभूषणों से विभूषित है तथा इसके शीश पर पद्मपत्रावली है।

नरवराह, झालावाड़ संग्रहालय

संग्रहालय के सख्यांक 69 पर रक्त पाषाण की 30 x 20 सेमी माप की एक मूर्ति महिषासुर मर्दिनी की प्रदर्शित है। इसमें चतुर्भुजी देवी के दो उर्ध्वकरों में आक्रामक मुद्रा में डमरू तथा खड्ग है। मुख्य कर में त्रिशूल है। यहां देवी पशु महिष के शरीर में त्रिशूल भोंकते हुए तथा एक कर महिष का मुख पकड़े हुए है। देवी का बायां पैर महिष की पीठ पर उसे दबाने की मुद्रा में है। इसके शीश पृष्ठ में गोलाकार आभामण्डल है। सम्पूर्ण मूर्ति में कहीं भी देवी के वाहन सिंह का प्रदर्शन नहीं है जबकि यहां महिष का पशुरूप है ना कि असुर (मानवरूप) का। संख्यांक 86

उमा-महेश, झालावाड़ संग्रहालय

त्रिमुखी वैकुण्ठ मूर्ति, झालावाड़ संग्रहालय

वरुण, झालावाड़ संग्रहालय

शृंगार दुर्गा क्षेमकरी, झालरापाटन

शैव साधु, झालरापाटन

पर एक अन्य 8वीं सदी की 170 x 915 सेमी माप की अष्टबाहू महिषमर्दिनी की मूर्ति प्रदर्शित है। इसमें देवी प्रचण्ड वेग द्वारा अपने दायें चरण से महिष की पीठ को तथा बायें चरण से उसके मुख को दबाये हुए है। देवी के करों में गतिमय त्रिशूल, खड्ग, खेटक जैसे आयुध हैं जो महिष से हुए युद्ध में आक्रामक भूमिका का निर्वाह करते हुए दर्शित हैं। यहां देवी ने अपने त्रिशूल से यद्यपि महिष (पशु) का शीश छिन्न किया है परन्तु महिष की गर्दन से मानव रूप असुर महिष निकलता हुआ प्रदर्शित है जो अपने खड्ग से देवी पर आक्रमण करने की मुद्रा में है लेकिन उससे पूर्व ही देवी द्वारा अपने आयुध को उसके वक्षस्थल पर प्रहार करते हुए दर्शाया है। देवी का वाहन सिंह महिष के पृष्ठ में उस पर प्रहार करते दर्शाया गया है।

संग्रहालय के संख्यांक 97 पर प्रदर्शित एक मूर्ति देवी अम्बिका की है। इस मूर्ति की विशिष्टता यह है कि इसमें देवी अम्बिका को रक्त बीज नामक असुर का वध करते हुए प्रदर्शित किया गया है तथा देवी चामुण्डा को अपने पात्र में रक्त एकत्र कर उसे पान करते हुए अंकित किया गया है। यहां देवी असुर का वध करके उसे त्रिशूल पर टांगे हुए है तथा उसके रक्त की बूंद से दूसरा असुर उत्पन्न होकर देवी पर आक्रमण कर रहा है। देवी इस मूर्ति में अपने कपाल-पात्र में असुर के रक्त को एकत्र कर पान करने की मुद्रा में दर्शायी गयी है।

झालरापाटन के चन्द्रावती देवी मंदिर के अंतरालय में एक विशाल चामुण्डा की उग्रमूर्ति दर्शित है। इसकी त्वचा

शिव-पार्वती कल्याण सुंदर मूर्ति, झालावाड़ संग्रहालय

के नीचे से नाड़ियां तथा अस्थियां झलकती हुई, वीभत्सभाव, अन्दर धंसा उदर जिस पर तंत्रसूचक वृश्चिक (बिच्छू) का लांछन अंकित है तथा उसके पानपात्र का मत्स्य अंकन कर दर्शाये हैं। यह अंकन तंत्रपूजा, सिद्धि की सर्वोच्च साधना सूचक है। यह देवी का उग्र क्रोध के संवेग से युक्त तथा भयावह स्वरूपा है, चामुण्डा की यह मूर्ति भूशायी मानव आकृति पर नृत्य करते हुए अंकित की गई है जो अपना सिर उठाकर उसका नृत्य देख रहा है। देवी के कण्ठ में मुण्डमाला तथा उसके बारह भुजायें हैं। एक हाथ में वह मानव मुण्ड को पकड़े हुए है, वह चण्ड असुर का है। देवी की द्वादश भुजाएं है। उरोमण्डल में उत्कीर्ण हैं जबकि मुख और पैर भग्न हैं। पैर की अंगुलियों के पृष्ठ में तथा भूशायी मानव पर देवी के वाहन गर्दभ की आकृति है।

उग्र महिषमर्दिनी देवी का एक सुन्दर और सौम्य स्वरूप 'शृंगारदुर्गा' का है। दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान में इस प्रकार की सुन्दर और परमारकालीन मूर्तियां झालरापाटन के **पद्मनाथ मंदिर** के गर्भगृह के बाहरी कुम्भकों में देखी जा सकती हैं। मंदिर के प्रधान दक्षिणी तथा उत्तरी ताक में शृंगारदुर्गा अपने इस रूप शृंगार में तल्लीन दर्पण में मुख निहारते हुए; बिन्दी, सिन्दूर लगाए, मणि, मुकुट, माला, कर्णशोभन, पायल पहने हुए शृंगारित रूपों में दर्शित है। इन मूर्तियों में यद्यपि देवी के हाथ भग्न है, तो भी उसका शृंगारशिल्प अद्भुत है। दक्षिणी ताक में यह देवी दो सिंहों के साथ बैठी है। जबकि उत्तरी ताक में वह विपरीतमुखी सिंहों पर बैठकर शृंगार करते हुए प्रदर्शित है। सामान्यतः विपरीत दिशा में मुख किये बैठे दो सिंहों के साथ स्थानक (खड़ी) या आसनस्थ (बैठी) देवी 'क्षेमकरी' मानी जाती है।

झालरापाटन के प्रसिद्ध **पुष्टिमार्गीय द्वारकाधीश देवालय** के नवनीत प्रियाजी पूजागृह के निकट एक प्राचीन तथा कलात्मक चतुर्बाहु गणपति की नृत्यमूर्ति कला की दृष्टि से देखने योग्य है। नृत्य गणपति की प्राचीन भारतीय मूर्तियों में यह निधि कई मायनों में आधार बनायी जा सकती है। गणपति यहां दक्षिणा शिवमूर्ति की भांति नृत्य करते प्रदर्शित हैं। इस मूर्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके बायें उर्ध्वकर में मोदक है, जिसे उनके कन्धों पर बैठा मूषक ग्रहण कर रहा है, वहीं अधोकर की अंगुलियों की मुद्रा में कुछ अस्पष्ट सी वस्तु को लिये हुए दर्शाया गया है। मूर्ति के दायें उर्ध्वकर में परशु है जो भुजाओं के सहारे से प्रदर्शित है, परन्तु इस कर को विपरीत मोड़ देकर नीचे किया हुआ है, जिसमें अंगुष्ठ एवं तर्जनी का स्पर्श अधोकर से मिलाया हुआ है। यह उनकी नृत्य मुद्रा में उठायी जंघा पर स्पर्श करता है। इस मूर्ति में गणपति के शीश पर गोलाकार पगड़ी, ग्रीवा में हार तथा बाजू में भुजबन्द एवं अलंकृत कड़े प्रदर्शित हैं। वहीं नृत्यमुद्रा में उठे दायें कर के कड़ा दर्शित है जिसके निकट हाथ जोड़े एक स्त्री की मूर्ति है। यह मूर्ति दक्षिणा शिवमूर्ति की भंगिमा लिये हुए है।

युग्म मूर्तियों में प्रमुख रूप से महेश की मूर्तियां भारत में विशेष उल्लेखनीय हैं। मध्ययुग में प्राचीन शास्त्रीय विवरणों से निकटता रखती इस प्रकार की मूर्तियों का निर्माण सम्पूर्ण भारत में लोकप्रिय था तथापि इस आशय की दो मूर्तियां, भारतीय मूर्तिकला में अपने स्पष्ट अंकन तथा भावों की अभिव्यक्ति के कारण झालावाड़ क्षेत्र की देन मानी जा सकती हैं। इन मूर्तियों को भारतीय मूर्तिकला में मूर्ति विशेषज्ञों द्वारा उदाहरण भी बनाया गया है।

स्थानीय संग्रहालय के संख्यांक 39 पर चन्द्रावती से प्राप्त 10वीं सदी की उमा-महेश की एक अन्य सुन्दर मूर्ति में चतुर्भुज शिव नन्दी पर ललितासन में विराजमान हैं। उनका दक्षिणाध कर पुष्पधारी एवं दक्षिणोर्ध्वकर सर्प से युक्त त्रिशूलधारी है। वामकर भग्न तथा वामाध कर उमा का आलिंगन करता हुआ है, हथेली वामस्तन पर है। मूर्ति में शिव त्रिनेत्र हैं तथा जटामुकुट, कुण्डल, ग्रैवेयक, हार, श्रीवत्स, यज्ञोपवीत, केयूर, कंकण, मेखला, लम्बी मालाओं

तथा पादवलय से अलंकृत दर्शाये गये हैं। देवी उमा उनकी वामावर्ती जंघा पर आसीन है, वे द्विभुजी हैं। उनका दायां कर शिव के दाहिने स्कन्ध पर रखा है तथा बायां कर भग्न है। वे करण्ड, मुकुट, कुण्डल, हार, केयुर, नूपुर आदि आभूषणों से विभूषित है। उमा-महेश के शीश पृष्ठ में पद्माकृत प्रभामण्डल है। मूर्ति के अर्ध्वभाग में शिवगणों, गणेश तथा नृत्यमुद्रा में भृंगी एवं उर्ध्वभाग पर ब्रह्मा तथा विष्णु की लघुमूर्तियां हैं। इस मूर्ति का सम्पूर्ण अंकन प्राचीन मूर्तिशास्त्र के समानुपातिक विवरण के अनुसार है।

इस क्रम में एक अन्य उमा-महेश मूर्ति स्थानीय संग्रहालय में दर्शित है जो पूर्ववत मूर्ति की भांति है। इसमें शिव का मस्तक व दो उर्ध्वकर अर्धभग्न हैं तो भी इसका शिल्पगत वैभव जीवन्त है। इसमें वामोर्ध्वकर में शिव द्वारा धारण किये सर्प की स्पष्ट आकृति है। दायें बायें दोनों कर क्रमशः पुष्पधारी हैं। उमा के वामस्तन पर है। उमा का दायां कर शिव के दायें स्कन्ध पर रखा हुआ है तथा बायें कर में वे दर्पण को धारण किये हुए हैं। उमा-महेश की यह मूर्ति भी पूर्वोक्त मूर्ति की भांति ही आभूषणों से समलंकृत है। शिव के नीचे तथा नन्दीवाहन के बायीं ओर त्रिशूल पुरुष तथा दायीं ओर एक अन्य आयुध पुरुष की एवं समक्ष में गणेश, भृंगी व कार्तिकेय की लघुमूर्तियां हैं। फलक के उर्ध्व भाग पर ब्रह्मा, विष्णु तथा विद्याधरों की लघुमूर्तियां हैं। यह मूर्तिफलक मूर्तिशिल्प के शास्त्रीय विवरणों के अनुसार अत्यन्त समानुपात में उत्कीर्ण है।

संग्रहालय में एक मूर्ति 'कल्याण सुन्दर' की है। ऐसी मूर्ति शिव-पार्वती के विवाह प्रसंग से सम्बन्धित होती है। यह नाम शिव और पार्वती के कल्याण और सुन्दर भावों को व्यक्त करता है। वररूप में शिव कल्याण के सूचक तथा वधूरूप में पार्वती अप्रतिम सुन्दर है। पुराविदों ने इसे कथात्मक मूर्त्यांकन की संज्ञा भी दी है।

संग्रहालय के संख्यांक 403 पर 11वीं सदी की 51x65 सेमी माप की रक्त पाषाण पर उत्कीर्ण एक कल्याण-सुन्दर मूर्ति दर्शनीय है। इसमें शिव-पार्वती के परिणय का मोहक दृश्य जीवन्त भाव से उकेरा गया है। मूर्ति में शिव, वामभाग में खड़ी पार्वती का पाणिग्रहण कर रहे हैं। वर के रूप में शिव विभिन्न आभूषणों से सज्जित एवं चतुर्बाहू हैं, जो किंचित नतग्रीवा पार्वती की और देखते हुए हैं। पार्वती के मुख और नेत्रों से नववधू के संकोच का भाव भी इस मूर्ति में दर्शित है। शिव-पार्वती की यह स्थानक मूर्ति विवाह की सप्तपदी रस्म की सूचक है। मूर्ति में चतुर्बाहू शिव का दाहिना चरण सीधा है व बायें चरण का घुटना किंचित मुड़ा है। उनका दाहिना कर पाणिग्रहण मुद्रा में पार्वती की हथेली को पकड़े हुए है जबकि बायां कर वरमुद्रा में है। दो अन्य करों में वे त्रिशूल तथा सर्प को धारण किये हुए हैं जटामुकुट, हार, केयूर, कुण्डल, भुजबन्ध एवं कटिमेखला से सज्जित हैं। पार्वती के बायें कर में पद्म है जबकि उनका दायां कर शिव की हथेली पर पाणिग्रहण मुद्रा में रखा है। मूर्ति के दोनों ओर सेविकाएं एवं शार्दूल बने हैं।

लक्ष्मीनारायण की एक विशिष्ट मूर्ति स्थानीय संग्रहालय में दर्शित है। 36x22 माप की 9वीं सदी की इस मूर्ति में चतुर्भुजी विष्णु, पुरुषाकृति गरुड़ पर ललितासन में विराजमान हैं। उनकी जंघा पर लक्ष्मी पालथी मार कर बैठी हुई दर्शायी गयी है। मूर्ति में विष्णु का दक्षिणाध कर अक्षमाला के साथ अभय मुद्रा में है तथा शेष तीन कर क्रमशः गदा, चक्र एवं शंख से युक्त हैं। लक्ष्मी का दायां कर विष्णु के दायें स्कन्ध पर है तथा बायां कर भग्न है। द्विभुजी गरुड़ अपने दोनों करों से विष्णु के दोनों चरणों को आधार दिये हुए है। उनका दायां जानु धरती पर स्थित और बायां जानु ऊपर उठा हुआ है। उभय पार्श्वों में दो चंवर धारणियों का एवं एक शंखपुरुष तथा एक चक्रपुरुष का अंकन है।

पौराणिक मान्यताओं के अनुसार पापों को कुण्ठित करने के कारण विष्णु का नाम बैकुण्ठ हुआ तथा उनके निवास लोक को भी बैकुण्ठ से संज्ञापित किया गया। झालावाड़ संग्रहालय के संख्यांक 8 पर प्रदर्शित 36x21सेमी माप की चन्द्रावती से प्राप्त पूरे देश में प्रसिद्ध 8वीं सदी की बैकुण्ठ त्रिमुखी मूर्ति अपने आप में विशिष्टता लिये हुए है। प्राचीन मूर्तिशास्त्र अपराजितापृच्छा तथा रूपमण्डन के बैकुण्ठ विवरण में ऐसी मूर्तियों के निर्माण तथा अनुपातों का सुन्दर वर्णन मिलता है। यह मूर्ति गरुड़ारुढ़ है जो अष्टभुजायुक्त है। मूर्ति का मध्यमुख विष्णु दायां मुख नृसिंह तथा बायां वराह का है। उनके समीप ही चक्र तथा शंख पुरुषों की लघुमूर्तियों का अंकन है जो विष्णु के आयुधपुरुषों के रूप में जाने जाते हैं। मूर्ति के दायें तीन करों में बाण,

गदा व खड्ग धारित है तथा चतुर्थ कर भग्न है जो सम्भवतः अभयमुद्रा में रहा होगा। बायें चार करों में वे खेटक, चक्र, धनुष एवं शंख धारण किये हैं। मूर्ति किरीटमुकुट, कुण्डल, हार, यज्ञोपवीत, मणिमेखला, वनमाला, केयूर, कंकण तथा पादवलयों से विभूषित है। त्रिमुखी विष्णु की इस बैकुण्ठ मूर्ति के नीचे वाहनरूप में प्रदर्शित मानव देहधारी गरुड़ है, जिसके शीश पर मुकुट है। यहां गरूड़ अपने दोनों हाथों से विष्णु के पैरों को आश्रय दिये हुए है। उनका बायां जानु उठा हुआ है। गरुड़ मूर्ति के दांयीं तथा बायीं ओर एक-एक छोटी पीठिका पर शंख व चक्र पुरुषों की लघुमूर्तियां हैं जबकि उर्ध्वभाग पर दोनों ओर एक-एक मालाधारी विद्याधर प्रदर्शित है। इस मूर्ति में करण्ड, मुकुट तथा सर्पहार दर्शित है।

दिगम्बर तथा श्वेताम्बर जैनमत के शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों में 24 तीर्थंकरों के साथ-साथ यक्ष-यक्षिणी के 24-24 रूप भी मिलते हैं। ये यक्ष-यक्षिणी जैन देवालायों में अंकित मिलते हैं। इस क्रम में चक्रेश्वरी देवी नामक यक्षिणी की मूर्ति सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है।

झालरापाटन के प्राचीन शांतिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर गर्भगृह के बाह्य के उत्तरी मण्डोवर में चक्रवेश्वरी देवी की मूर्ति है, जिसमें उसका अप्रतिम रूप सौन्दर्य प्रदर्शित हुआ है जो जैनकला का अद्वितीय उदाहरण है। यह देवी प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ (ऋषभदेव) की यक्षी के रूप में अधिकृत है। यहां यह अष्टभुजी देवी मानवाकार गरुड़ पर ललितासन मुद्रा में विराजमान है। देवी के उर्ध्व दोनों करों में अतिसुन्दर चक्र आयुधों का अंकन है। शेष चार करों गदा, पाश, अक्षमाला व एक कर वरमुद्रा में है। यह मूर्ति आभूषणों से शीश से लेकर पादांगुली तक अलंकृत है। इसके शीश पर लम्बवत् मुकुट, कुण्डल, तीन लड़ियों का मणियुक्त ग्रीवाहार है जिसकी लटकन स्तनों के मध्य से नाभि तक दर्शित है। इसी तरह अन्य अंगों में कर्णकुण्डल, केयूर, कटक, भुजबन्ध, पायजेब, करधनी का अंकन इस मूर्ति की कला की पराकाष्ठा का उदाहरण है। मानवाकृति गरुड भी शीश पर मुकुट, कर्णकुण्डल तथा ग्रीवाहार से अलंकृत है, उसने अपने दोनों हाथों से देवी की दांयी जंघा तथा वाम चरण को थाम रखा है। देवी उसके स्कन्धों पर ललितासन में आरूढ़ है।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ स्वामी की यक्षिणी के रूप में पद्मावती देवी का नाम है। यह देवी मूर्तिरूप में कुक्कुट वाहन तथा पार्श्वनाथ स्वामी के सर्प के साथ प्रदर्शित रहती है। उक्त मंदिर के एक शिलाफलक में पद्मावती देवी की सुन्दर मूर्ति दर्शनीय है, जो अष्टभुजायुक्त है। यह ललितासन में विराजमान और सप्तसर्पफणों के छत्र से युक्त है। उसके हाथों में वरमुद्रा, वज्र, पद्मकलिका, कृपाण, खेटक, घण्टा तथा खड्ग आयुध है, परन्तु यहां उनके वाहन कुक्कुट का अभाव है।

सम्पूर्ण भारतवर्ष में सृष्टि के कर्मों का नियमन करने वाले एक मात्र देवी-देव **विमाता (विधातृ या लोकभाषा में बेमाता) तथा विधाता की अलभ्य मूर्तियां** झालावाड़ जिले की प्राचीन नगरी झालरापाटन से मिली हैं। महाभारत (13/149/64) में स्पष्ट रूप से जिस देवाधिदेव को विधाता सहस्रांशुर्विधाता व्यक्त लक्षणं कह कर पूजित कहा गया, उसी विधाता को अग्नि पुराण के 'गणभेदनामाध्याय' में प्रकार से महनीय रूप से रेखांकित किया गया है।

द्वौ धाता च विधाता च पौराणौ जगतां पति।
द्वौ शास्तारौ त्रिलोकेस्मिन धर्म्माधर्मौ प्रकीर्तितौ।।

(अर्थात् प्राचीनकाल से संसार के दो ही ईश्वर हैं। एक धाता और दूसरे विधाता ये दोनों इस संसार के शासक हैं तथा दोनों ही संसार के सभी प्राणियों, जीवों के धर्म एवं अधर्म का नियंत्रण अपने हाथों से करते है)। यही लोकमान्यता है कि प्राणियों के धर्म-कर्म का लेखन विधाता करते हैं। ये विधाता समस्त सृष्टि के कर्मों का नियमन करने वाले देव हैं। प्राचीन मूर्तिशास्त्र में विधाता और विधातृ की मूर्तियों का उल्लेख है।

पुरातत्वविद् ऋषि जैमिनी बरुआ ने विमाता (बेमाता) और विधाता की उपरोक्त मूर्तियों के बारे में लिखा है कि-- सारे मरु -प्रदेश में ही नहीं सम्भवतः समग्र भारत में विधाता और विधातृ (विमाता) की मूर्तियां प्राप्त ही नहीं हैं। परंतु झालरापाटन के शनिमंदिर में हमें इस दम्पति की मूर्तियां दिखायी दी तो हमारा मन अपार हर्ष से भर गया। विधाता और विमाता दोनों की चाहे हमें एक एक ही मूर्ति देखने को मिली, किन्तु इससे यह स्पष्ट हो गया कि इनके प्रति केवल लोकमानस का ही नहीं, मूर्तिकारों का भी सौमनस्य रहा होगा। राजस्थान में यह मूर्ति अपनी अद्भुत शैली की अत्यन्त दुर्लभ मूर्ति है। बरुआजी के इस उल्लेख

विधाता मूर्ति **विमाता मूर्ति**

के आधार पर मैं झालरापाटन में इमली दरवाजे के निकट स्थित शनिमंदिर गया जहां शनिदेव सहित अनेक ग्रहों तथा चन्द्रावती की प्राचीन देवमूर्तियां सुपूज्य रूप में दर्शनीय हैं। इन्हीं मूर्तियों में 16वीं-17वीं सदी की दो रक्त पाषाणफलक पर उत्कीर्ण विधाता और विधातृ (विमाता) की मूर्तियां हैं जो क्रमशः पुरुष-स्त्री यहां विधाता के बायीं ओर विमाता (विधातृ) की मूर्ति प्रतिष्ठित है। इन दोनों दुर्लभ मूर्तियों की विशेषता यह है कि इन्होंने लोक में प्रचलित वस्त्र पहन रखे हैं और पगड़ी धारण किये है, जो मध्ययुग में प्रायः दीवान पहना करते थे। विधाता की मूर्ति 24 x 20 इंच माप की है। इसके शीश पर दीवानी पगड़ी का सुन्दर अंकन द्रष्टव्य है। कानों में गोलाकार कुण्डला तथा ग्रीवा में मणियुक्त माला तथा हार है। विधाता के कटि प्रदेश पर पहनने वाली धोती के ऊपर का पट्टा तथा उत्तरी वस्त्र का सुन्दर अंकन है। पद्मासन में बैठे विधाता ने अपनी बायीं भुजा की अंगुलियों में लेखनी पकड़ी हुई है, जिसकी नोक नीचे रखी स्याही की दवात में है जबकि दायीं भुजा की थैली में एक पत्रक दर्शित है। यह उपक्रम उनके द्वारा प्राणियों के कर्मों के नियमन, लेखन किये जाने का भाव माना जा सकता है। विधाता ने अपने कन्धों पर एक सुन्दर उत्तरीय भी धारण किया हुआ है, जो घुटनों तक लटका हुआ है। पीछे की ओर ओपरने का अंकन है। वर्तमान में शनिमंदिर के पुजारी ने भ्रमवश इस मूर्ति के उपर धर्मराज लिख दिया है।

मूर्ति के निकट विमाता (विधाता-बेमाता) की ललितासन समान मुद्रा की लगभग उक्त माप की मूर्ति प्रतिष्ठित है। विमाता के शीश पर पगड़ी है जिसके नीचे भी वस्त्र की पट्टी तथा ग्रीवा में हेमसूत्र का अंकन है। विमाता ने कानों में दो-दो कुण्डल धारण किये हैं। विमाता के दायें कन्धे पर उत्तरीय है जो उनकी ग्रीवा में तिरछा होते हुए बायें स्तन के नीचे से पीठ तक दर्शित है। उनका बायां पैर मुड़ा हुआ है, जिसमें जंघा पर उत्तरीय वस्त्र का अंकन नहीं है। विमाता के बायें हाथ की अंगुलियों में भी लेखनी है जबकि दाहिने हाथ में वे पुस्तक का पृष्ठ थामे हुए है। उनकी मुख मुद्रा में कर्म, धर्म के लेखन की चिन्तन प्रधान भावाभिव्यक्ति है।महिलाएं बताती हैं कि शिशु के बाल्यकाल में उसके बेवजह हंसने, रोने या खेलने जैसे क्रियाकलापों का निर्धारण बेमाता के ही प्रभाव से होता है। यद्यपि लौकिक मान्यताओं में विमाता तथा विधाता को भली भांति जाना जाता है तथा पुराणों में उनका वर्णन भी मिलता और मूर्तिकला परम्परा में भी उनका विधान प्राप्त होता है, परन्तु यह एक चकित कर देने वाला तथ्य है कि इन दोनों देवी-देव की मूर्तियां देश के किसी अन्य प्राचीन देवालय में अथवा उत्खनन में आजतक प्राप्त नहीं हो पाई है। यह भारतीय मूर्तिकला परम्परा में एकमात्र मूर्ति है।

अंत में यह उल्लेखनीय है कि जिले की प्राचीन मूर्तिकला परम्परा को सुदीर्घ रूप से जीवन्त रखने में आज भी झालरापाटन के सिलावटों (पत्थर की शिला से मूर्तियां बनाने वालों) का अनुपम योगदान है। यहां के लंका दरवाजे का पूरा क्षेत्र पौराणिक देव परिवारों व लोकदेवताओं की सुन्दर मूर्तियां परम्परागत रूप से निर्मित करने में लगा हुआ है। यहां की मूर्तियों में आज भी प्राचीनता और पौराणिकता के भाव निहित हैं। इन्हीं कारणों से देश के कई राज्यों के कई देव महालयों में यहां की देव मूर्तियां पूज्य रूप में स्थापित हैं। यहां के एक मूर्तिकार स्व. अमरलाल बैरवा ने तो प्राचीन मूर्तियों के समानान्तर मूर्तियां बनाकर राष्ट्रीय स्तर पर सम्मान प्राप्त किया था। उन्होंने यहां कई शिष्य बनायें जो आज भी प्राचीन परम्परा की मूर्तियां बनाते हैं।

झालावाड़ क्षेत्र से उपलब्ध अल्पज्ञात मुद्राएँ

राजस्थान प्रदेश में स्थित हाड़ौती और मध्यप्रदेश स्थित मालवा के हृदय मिलन पर बसा झालावाड़ जिला अपने भू-भाग में हजारों वर्षों की पुरातात्त्विक सांस्कृतिक विरासत को समेटे हुए है। इस भू-भाग में उत्खनन तथा विभिन्न स्थलों से प्राचीन मालवा तथा हाड़ौती के कई प्रसिद्ध नरेशों की ऐसी स्वर्ण, रजत एवं ताम्र मुद्राएं मिली हैं जिनका अपना राष्ट्रीय ऐतिहासिक महत्व है। इन मुद्राओं में प्राचीन, मध्ययुगीन से लेकर निरन्तर 19वीं सदी तक की कालावधि की मुद्राएं हैं। झालावाड़ के पुरातत्त्व संग्रहालय में 1972 ई. तक की रिपोर्ट के अनुसार कुल मुद्राएं 1684 रही जिनमें स्वर्ण, रजत, ताम्र व पुटीन धातु की मुद्राएं हैं।[1] ये मुद्राएं भारत के प्राचीन व मध्यकालीन शासकों के साथ कुछ विदेशी शासकों एवं ब्रिटिश काल की भी हैं। यहां संरक्षित स्वर्ण की मुद्राएं 55, रजत की 1150, ताम्बे की 483 एवं पुटीन धातु की 6 एवं जर्मन मार्क्स की 72 मुद्राएं थी। परन्तु पश्चात् के समय में भी कुछ मुद्राएं कई ग्रामों, पुलिस विभाग तथा धूलधोयों आदि से प्राप्त हुई थी। इस प्रकार वर्तमान में इनकी कुल संख्या 2186 हो गयी है। इन मुद्राओं की जानकारी से ज्ञात हुआ कि इनमें आहत (पंचमार्क) सातवाहन, कनिष्क, हुविष्क, गुप्त सम्राट, आदिवराह, इण्डोसिसानियन के साथ अलाउद्दीन खिलजी, अकबर, शाहजहां, औरंगजेब से लेकर हैदर अली सहित बूंदी, कोटा एवं झालावाड़ राज्य के शासकों की तथा ब्रिटिश युगीन मुद्राएं संरक्षित हैं। स्थानीय संग्रहालय के सूत्रों के अनुसार ये मुद्राएं मुख्यतः इस भू-भाग की प्राचीन चन्द्रावती नगरी सहित ग्राम मोड़ी एवं जूनाखेड़ा (असनावर), सरेड़ी (मनोहरथाना), सारोला (खानपुर) गंगधार गागरोन आदि स्थलों से मिली थी। इन मुद्राओं से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि झालावाड़ के भू-भाग में प्राचीन भारतीय अनेक नरेशों व मध्ययुगीन शासकों का या तो आधिपत्य रहा होगा अथवा फिर उनके अधिकृत भू-भाग में यह क्षेत्र रहा।

स्थानीय पुरातत्त्व संग्रहालय के डबल लॉक में संरक्षित इन सैकड़ों मुद्राओं पर अभी तक कोई शोध नहीं की गई है, ना ही किसी को इनके बारे में विशद, प्रामाणिक एवं विस्तृत जानकारी है। प्रस्तुत शोध लेख में उक्त मुद्राओं में से कुछ प्रमुख मुद्राओं का स्वयं लेखक ने सामुख्य अध्ययन कर यहां प्रस्तुत करने का यथा संभव प्रयास किया है जो अब स्थानीय संग्रहालय में परिचयात्मक चित्रों के रूप में प्रदर्शित हैं। इन मुद्राओं की प्राप्ति के इस भू-भाग में स्वयं लेखक ने भी व्यापक सर्वेक्षण किया है तथा प्रस्तुत लेख में विश्लेषित इन मुद्राओं से संबन्धित मूल ग्रन्थों का भी अध्ययन किया है, जिनके आधार पर यह सामग्री तैयार की गई है। स्थानीय संग्रहालय के मुद्रा कक्ष में संख्यांक 650 पर प्रदर्शित एक चौकोर चांदी की मुद्रा 1.8x1.5 सेमी माप तथा 3.16 ग्राम की है।[2] यह मूलतः चिह्नित (आहत) मुद्रा है जिसे पंचमार्क मुद्रा भी कहा जाता है। संग्रहालय में प्रदर्शित मुद्रा चित्र में इसका समय 600 से 200 वर्ष ईसा पूर्व निर्धारित किया है। इसके अग्रभाग पर षटचक्र, सूर्य, वृषभ, गज व तीन पहाड़ी, उपर अर्द्धचन्द्र तथा एक बालक व श्वान है। पृष्ठभाग पर दो अस्पष्ट चिह्न हैं। इस मुद्रा के अतिरिक्त ऐसी ही एवं दो अन्य मुद्राएं भी संरक्षित हैं। इनमें प्रथम पंचमार्क मुद्रा 2.500 ग्राम की है जो चांदी की है। इसके अग्रभाग पर सूर्य, षटभुजा, अथवा शहादरा चक्र, तीन पहाड़ियां, ऊपर अर्द्धचन्द्र, वृषभ व गज है। जबकि पृष्ठ भाग पर पहाड़ियां हैं। द्वितीय मुद्रा 5 ग्राम की हैं इसके दो आयताकार कोने भग्न है अतः इसका वजन पूर्ण रुपेण निर्धारित नहीं किया गया है। इसके पृष्ठभाग पर भी अस्पष्ट सी आकृति का अंकन है। ऐसी मुद्राओं की इस स्थान पर प्राप्ति का उल्लेख पुरातत्त्ववेत्ता अलेक्जेन्डर कनिंघम ने भी किया है। इस स्थल से बगैर अंकन की कुछ चौकोर ताम्र मुद्राएं भी मिली थी। कारलिथये नामक पुराविद् ने इनकी प्राप्ति चन्द्रावती (झालरापाटन) में बतायी है। प्रसिद्ध मुद्रा विशेषज्ञ डॉ. रामप्रकाश ओझा ने अनेक पुराविदों के मतों के आधार पर ऐसी मुद्राओं को मौर्ययुगीन माना है।[3]

चांदी की एक गोल प्रदर्शित मुद्रा (चित्र) **सातवाहन वंशीय नरेश 'सातकर्णि' (ई.पू.172-162)** की है। इन नरेशों का उद्भव क्षेत्र दक्षिण में आन्ध्रप्रदेश रहा है।[4] विवरण में इस मुद्रा का काल 27ई. पूर्व से 2 सदी ई. बताया गया

आहत पंचमार्क्ड मुद्रा (अग्रभाग एवं पृष्ठ भाग)

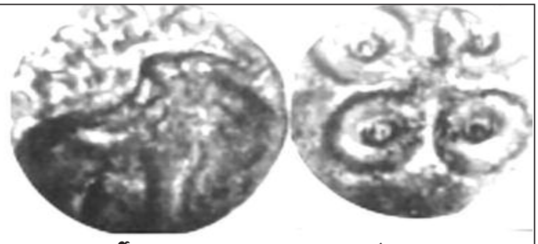

सातकर्णी सातवाहन मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग)

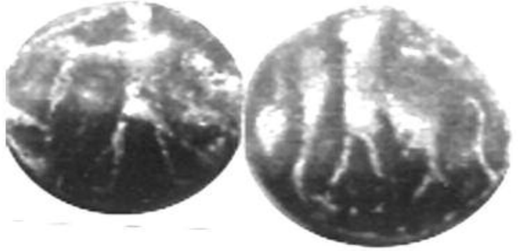

कनिष्क की मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग)

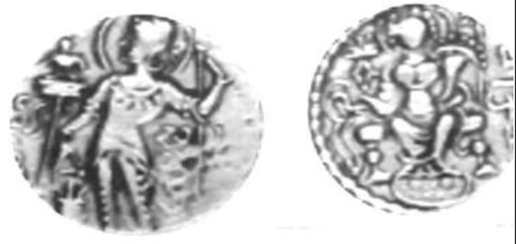

समुद्रगुप्त की ध्वजप्रकार मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग)

चन्द्रगुप्त द्वितीय की धनुर्धर प्रकार मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग)

इंडोसीसानियन मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग

है। संख्यांक 257 1.7x1.7 सेमी माप तथा 2.28 ग्राम की इस मुद्रा के अग्रभाग पर गज की आकृति का अंकन है। गज का मुख बांयी ओर तथा उसकी नासिका (सूंड) नीचे की ओर है। इसके शीर्ष पर ब्राह्मी लिपि में 'सातकर्णि रजो' लेख का अंकन है। पृष्ठ भाग पर प्राचीन उज्जयिनी का प्रसिद्ध चिन्ह है जो चार गोलाकार आकृतियों को एक दूसरे से दो रेखा मार्गों को मिलाते हुए अंकित है।[5] यह मुद्रा अंकन उज्जयिनी प्रकार की मुद्राओं की विशिष्ठ पहचान है। ऐसी मुद्राओं को नहपान नामक नरेश के युग से भी प्रचलित माना जाता है जिसमें उक्त प्रकार के चिन्ह है।[6] सूत्र के अनुसार ऐसी 6 मुद्राएं स्थानीय संग्रहालय में संरक्षित है जिनकी धातु में पोटीन का भी मिश्रण है, परन्तु मुद्रा विज्ञानी प्रेमलता पोखरना ऐसी मुद्राओं की संख्या 9 बताती है।[6]

एक अन्य प्रदर्शित गोल मुद्रा **कुषाण सम्राट कनिष्क** (78-102 ई.) की है। यह दूसरी-तीसरी सदी की है। संख्याक 160 पर ताम्र धातु की यह मुद्रा 1.7x1.7 सेमी माप एवं 3.9 ग्राम की है।[7] इसके अग्रभाग पर सम्राट कनिष्क वीरोचित मुद्रा में अपने शीश पर गोलाकार मुकुट धारण किये खड़े है। वे अपने दांये हाथ से नीचे रखी यज्ञवेदी में हवि डालते हुए है। इस हाथ में वे अंकुश को भी पकड़े हुए है। बांये हाथ को वे उपर उठाकर उसमें भाला अथवा शूल थामें हुए है। उनके मुख पर दाड़ी एवं मूछों का अंकन है। वे घुटनों तक पायजामा व उसके उपर लम्बवत् वस्त्र पहने है। उनकी कटि पर एक कमर पट्टा बंधा है जिसमें एक असि (तलवार) बंधी हुई है। कनिष्क के धारण किये वस्त्र की किनारी पर चारो ओर ग्रीक लिपी व शक भाषा में 'शाओ नानो शाओ कनेष्की कुषाणों' पंक्तिका अंकन है जिसका अर्थ- 'शहनशाहों का शाह कनिष्क कुषाण' है। इस मुद्रा के पृष्ठभाग पर शिव एवं उनके वाहन नन्दी का अंकन है। शिव के बांये कर

में त्रिशूल है जिसके उपर ग्रीक लिपि में 'ओहशो' शब्द का अंकन है। ऐसी मुद्राओं को ओइशो प्रकार की मुद्रा कहा जाता है।[8]

चांदी की इसी प्रकार व इसी काल की एक अन्य गोल मुद्रा **सम्राट हुविष्क** (162-180 ई.) की है। संख्यांक 161 पर 1.9x1.9 सेमी माप एवं 6.2 ग्राम की इस मुद्रा[9] के अग्रभाग पर हुविष्क को अपने शीश पर गोलाकर मुकुट धारण किये दर्शाया है। वे अपने दांये हाथ में अंकुश थामें हुए नीचे रखी यज्ञ वेदिका में हवि समर्पित करते हुए है। उनका बांया हाथ नीचे की ओर है। हुविष्क ने पैरों में पायजामा व घुटनो तक लम्बा वस्त्र धारण किया हुआ है। वे अपनी कटि की पट्टिका में तलवार बांधे हुए राजोचित वेश में खड़े है। इस मुद्रा की किनारी पर ग्रीक लिपि में चारो ओर 'शाओ नानो शाओ हुवेष्कि कुषाणों' अंकित है। मुद्रा के पृष्ठभाग पर पूर्वोक्त मुद्रा (कनिष्क) की ही भांति शिव का अंकन व 'आशो' शब्द उत्कीर्ण है। ज्ञातव्य की यह नरेश सम्राट कनिष्क का उत्तराधिकारी था। इन दोनों की मुद्राओं पर उत्कीर्ण शब्द उनकी त्तकालीन ईरानी पदवी के रूप में मान्य है। हुविष्क ने भी कनिष्क की मुद्राओं के अनुसरण पर ही स्वर्ण, रजत तथा ताम्बे की अपनी मुद्राएं प्रचलित की थी और प्रस्तुत मुद्रा उनकी ओइशो प्रकार की मुद्राओं में मान्य है।[10]

एक अतिविशिष्ट गोल स्वर्ण मुद्रा (चौथी सदी) **गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त** (335-375) की है। यह ध्वज प्रकार की है। संख्यांक 53 पर 2.1x2.1 सेमी माप एवं 7.53 ग्राम की इस मुद्रा के अग्रभाग[11] पर ब्राह्मी लिपि में 'समर शत वितन विजयोजित रिपुराजितो दिवम जयति' अर्थात् 'सर्वत्र विजयी सम्राट जिसने सैकड़ों युद्धों (समर) में विजय प्राप्त कर शत्रु को पराजित किया वह स्वर्ग की विजय प्राप्त करता है' का अंकन है। इस भाग पर सम्राट वीरोचित भाव से खड़े है। उनके वस्त्र फारसी वेशभूषा से प्रभावित है। उन्होंने अपने बांये हाथ को उपर उठाकर उसमें गरूड़ध्वज को थाम रखा है वह अपने दांये हाथ से प्रज्जवलित यज्ञवेदी में आहुति देते हुए है। इस भाग पर गरूड़ पक्षी तथा बांयी ओर नीचे समुद्र शब्दांकन है। पृष्ठ भाग पर एक देवी आरदोक्षो को सिंहासनारूढ़ दर्शाया हैं उसके बांये हाथ में कार्निकोपियों तथा दांये हाथ में पाश है। देवी के शीश के पृष्ठ में गोलाकार प्रभामण्डल व आवक्ष एवं ग्रीवा में समृद्धि चिन्ह है जो पौराणिक भावाभिव्यक्ति है। इसके नीचे ब्राह्मी लिपि में 'पराक्रम' लिखा है। मुद्रा के अग्रभाग में सम्राट ने चूंकि गरूड़ध्वज थाम रखा है। अतः ऐसी मुद्राएं 'ध्वज प्रकार की मुद्राएं' कही जाती है।[12]

गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय (380-412 ई.) की एक विशिष्ठ धर्नुधारी प्रकार की स्वर्णमुद्रा चौथी-पांचवीं सदी की है। संख्यांक 54 पर 2.0x2.0 सेमी माप एवं 7.84 ग्राम की इस गोल मुद्रा के अग्रभाग[13] पर ब्राह्मी लिपि में 'देवश्री महाराजधिराज श्री चन्द्रगुप्त' अंकित है। यहां सम्राट वीरोचित मुद्रा में खड़े है। उनका मुख दांयी ओर के गोले की ओर देखते हुए है। उन्होंने अपने बांये कर को उपर उठाते हुए उसमें धनुष को पकड़ा हुआ है। उनके दांये कर में बाण है। इसके निकट ही उनका गरूड़ ध्वज है। इसके नीचे 'श्री विक्रम' ब्राह्मी लिपि में अंकित है। उनके बांये कर के नीचे ब्राह्मी लिपि में 'चन्द्र' शब्दांकन अंकित है। सम्राट के शीश पर गोलाकार अंलकृत मुकुट, कर्णो में कुण्डल है। वे बन्द गले का कोट धारण किये है। कटि के नीचे तक उन्होंने पायजामा पहना हुआ है। पृष्ठभाग पर कमलासनादेवी (लक्ष्मी) का अंकन है। देवी के शीश के पृष्ठ में स्वर्णिम आभामण्डल है। देवी के दो बांये करों में से एक में कमलपुष्प, एक कर खाली तथा उनके दांये करों में से एक में अस्पष्ट वस्तु व एक कर में वे पाश को धारण किये हुए है। देवी को साड़ी, चौली धारण किये हुए एवं कर्ण पुष्पों, ग्रीवाहार, भुजबन्ध जैसे आभूषणों से अलंकृत किया गया है।[14] इसी क्रम की एक अन्य गोल स्वर्ण मुद्रा (धनुर्धारी प्रकार) 9 ग्राम की है यह **सम्राट कुमारगुप्त** (415-455 ई.) की है। इसके अग्रभाग पर सम्राट बांयी ओर सम्मुख रूप में खड़े है। वे अपने बांये कर में धनुष तथा दांये कर में बाण लिये हुए है। उनके समक्ष गरूड़ ध्वज का अंकन है। उनके बांये कर की ओर ब्राह्मी लिपि में 'कुमार' का शब्दांकन है। पृष्ठभाग में देवी लक्ष्मी को कमलासना अंकित किया है तथा उन्हें आभूषणों से पूर्वोक्तमुद्रा की भांति अलंकृत कर दर्शाया है। इसमें देवी के नीचे ब्राह्मी लिपि में 'श्री महेन्द्र' का शब्दांकन है।[15]

ये मूलतः गुप्त सम्राटों की वैष्णव धर्म वाली मुद्राएं है। प्रारम्भिक तौर पर ये मुद्राएं कुषाण शासकों की मुद्राओं के उदाहरण पर बनी परन्तु कालान्तर में इनका भारतीयकरण होता गया। गुप्त शासक समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय व कुमारगुप्त की ऐसी मुद्राएं भारतीय इतिहास की अतिविशिष्ठ मुद्राएं मानी जाती है। इन मुद्राओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि गुप्त सम्राट परमभागवत विष्णु, लक्ष्मी तथा उनके वाहन गरूड़ के उपासक रहे है।

चांदी की दो गोल मुद्राएं यहां **इण्डोसिसानियन** (8-9वीं सदी) की है। इनमें प्रथम मुद्रा संख्यांक 571 पर 1.6x1.6 सेमी माप तथा 3.97 ग्राम की है एवं द्वितीय संख्यांक 158 पर उक्त सेमी माप तथा उक्त ग्राम की है।[16] ऐसी मुद्राओं का प्रसार विशेषकर गुजरात, मालवा और राजस्थान में बड़ी मात्रा में हुआ था। ऐसी मुद्राओं पर सासानी (सिसानियन) उर्ध्वांग और विकृत स्वरूप में अग्नि वेदिका मिलती है। ऐसा माना जाता है कि वस्तुतः ऐसी मुद्राएं मिहिरकुल की चांदी की मुद्राओं की परम्परा में होना चाहिये।[17] ऐसी मुद्राओं का उल्लेख भारतीय शिलालेखों में द्रम्म नाम से मिलता है जो कदाचित सासानी भारमान के आधार पर द्रख्म से ग्रहण किया गया है।[18] इन मुद्राओं को 'गधिया मुद्रा' नाम दिया गया, क्योंकि ये मुद्रायें भद्दे ढंग वाली रही। स्थानीय संगहालय की इन मुद्राओं के अग्रभाग पर राजा का भोंडा मुखमण्डल कन्धों तक है तथा वह बांयी ओर देखता दर्शित है। उसके शीश पर चन्द्रयुक्त मुकुट है। उसके मुख की ढुड्डी के समक्ष बिन्दू की पंक्तियां तथा कुछ अक्षर है परन्तु इनका आधार अस्पष्ट है। संभव है यह इन मुद्राओं के प्रचलन वाले शासकों के आद्याक्षर हो। इसके पृष्ठ भाग में स्तम्भ के शीर्ष पर अग्निवेदिका है। जिसके उपर बिन्दुओं के चिन्ह है तथा वेदिका से अग्नि की लपटें प्रज्जवलित होती दर्शायी गयी है। वेदिका के बांयी ओर चन्द्र तथा दांयी ओर तारे का अंकन है। वेदिका के दोनों ओर एक-एक पुरूषाकृति का भी अंकन है। ऐसी मुद्राएं स्थानीय संग्रहालय में 228 चांदी एवं 173 ताम्र धातु की सुरक्षित है।

चांदी की एक गोल मुद्रा 9वीं-10वीं सदी की **आदिवराह** की है। संख्यांक 648 पर 1.6 x1.6 सेमी माप की इस मुद्रा का वजन 3.83 ग्राम है।[19] ऐसी मुद्राएं राजस्थान में गधिया मुद्राओं के साथ-साथ उक्त सदियों में मिली है। जिन्हें गुर्जर प्रतिहार मुद्राएं एवं आदिवराह द्रम्म कहा गया।[20] आदिवराह की इन मुद्राओं को भोजदेव की मुद्रा भी कहा गया है। **राजा भोजदेव प्रथम** (1010-1053 ई.) को ग्वालियर प्रशस्ति में आदिवराह की उपाधि से विभूषित किया गया है।[21] प्रदर्शित मुद्रा के अग्रभाग पर पृथ्वी उद्धारक विष्णु के वराह अवतार रूप का अंकन है। इसमें मनुष्य के शरीर पर वराह का शीश बायीं ओर देखते प्रदर्शित है। वराह का दांया पैर सीधा तथा बांया पैर भूमि से उपर उठा हुआ युगल सर्प के शीश पर है। वराह के बांये कर में युगल सर्प की पूंछ है। उनका बांया कर घुटने पर एवं दांये कर में वे शंख धारण किये हुए है। वराह ने घुटनों तक वनमाला धारण की हुई है। उनके शीश के उपर कमल पुष्पाच्छादन है। उनके बांये कर की कोहनी पर पृथ्वीदेवी का अंकन है। उनकी चारों भुजाओं में वैष्णव आयुध है। मुद्रा के पृष्ठभाग के मध्य में एक स्तम्भ है जिसके शीर्ष पर अग्निवेदिका के दांयी तथा बांयी ओर से अग्नि की लपटें निकलती हुई है। इस वेदिका के दांयी तथा बांयी ओर एक-एक मानवीय आकृति भी है। वेदिका पर नागरी लिपि की दो पंक्तियों में 'श्री मदादि वराह' का अंकन है। ऐसी पांच गोल मुद्राएं स्थानीय संग्रहालय में सुरक्षित है।[22]

तीन अन्य गोल स्वर्ण मुद्रा **कलचुरिवंशीय नरेश गांगेयदेव** की है। इनमें संख्यांक 49 पर 2.0x2.0 सेमी माप एवं 3.72 ग्राम की व इसी संख्यांक पर इसी ग्राम परन्तु 1.9 x1.9 सेमी माप की 0.93 ग्राम की ये मुद्राएं है।[23] इन तीनों मुद्राओं के अग्र व पृष्ठभाग पर समान आकृतियां है। गांगेयदेव का शासन त्रिपुरी क्षेत्र था तथा उसका समय 1015 ई.सं. से 1040 ई.सन् तक रहा।[24] संख्यांक 49 की गांगेयदेव मुद्रा के अग्रभाग पर वृत्ताकार गोल बिन्दुओं के मध्य दो पंक्तियों में नागरी लिपि में 'श्रीमद् गांगेयदेव' का अंकन है।

पृष्ठभाग पर पद्मासनावस्था में गोल बिन्दुओं के मध्य चतुर्भुजी देवी लक्ष्मी का अंकन है। उनके शीश के पृष्ठ में प्रभामण्डल है। देवी की ग्रीवा में हार, कर्णकुण्डल में खला, पैरों में कड़े उकरे हुए है। इनके अतिरिक्त पृथ्वीदेव की 2 एवं जाजवल्यदेव की एक स्वर्ण मुद्रा भी स्थानीय

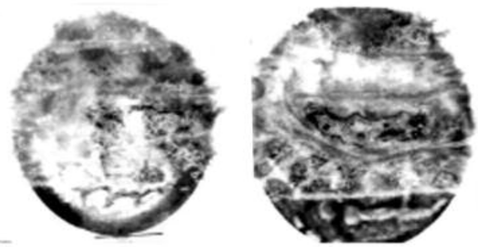

इंडोसीसानियन मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग

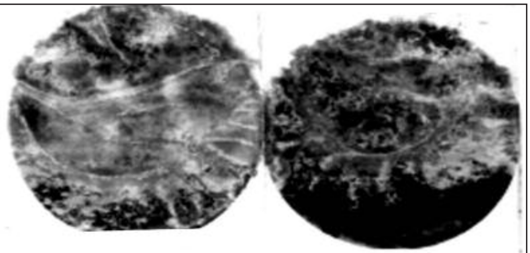

आदिवराह मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग)

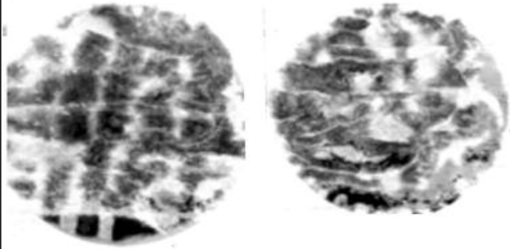

गांगेयदेव की मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग)

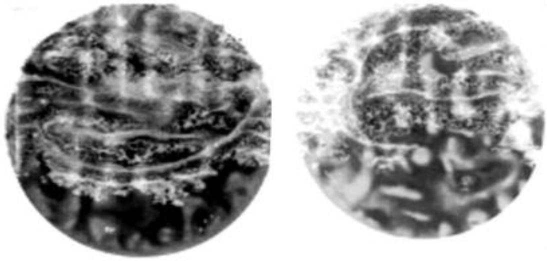

गांगेयदेव की मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग)

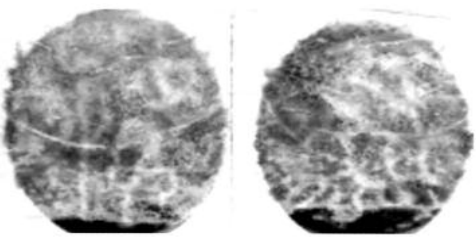

अश्वारोही वृषभ प्रकार मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग)

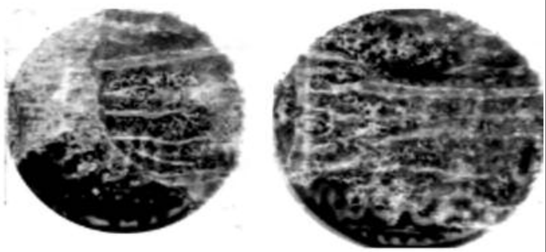

अकबर की मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग)

संग्रहालय में सुरक्षित है। प्रतीत होता है कि इन मुद्राओं की धातु में अन्य कई धातुओं का मिश्रण है एवं ये मुद्राएं दक्षिण भारतीय प्रभाव की प्रतीत होती हैं।

ताम्बे की एक गोल **अश्वारोही वृषभ प्रकार** की 1.5 x1.5 सेमी माप एवं 3.50 ग्राम की मुद्रा 11-12वीं सदी की है। यह संख्यांक 154 पर प्रदर्शित है।[25] ऐसी मुद्राओं के प्रचलन की जानकारी के अनुसार सन् 1210 ई. में कुतुबुद्दीन ऐबक की मृत्यु के बाद जब अल्तमश दिल्ली का सुल्तान बना तब उसने अपने पूर्वगामी नरेशों और सुल्तानों की भांति वृषभारोही अश्व प्रकार की चांदी ताम्बे मिश्रित मुद्राएं चलायी। संभावना है इस समय के गोर सुल्तान ने अपने पूर्ववर्ती चौहान मुद्राओं के ढंग पर अपनी ऐसी मुद्राएं प्रचलित की थी।[26] इस मुद्रा के अग्रभाग पर बांयी ओर उन्मुख अश्वारोही का अंकन है। इसके एक कर में पताका अथवा भाला और द्वितीय कर में वह अश्व की लगाम को थामें हुए है। चूंकि अश्वारोही का अंकन चौहान ढंग के अश्वारोही की भांति है और उसकी आकृति के चतुर्दिक नागरी लिपि में 'श्री हमीर' (हमीर चौहान) लेख का अंकन है। पृष्ठभाग में कूबड़धारी वृषभ की आकृति है, जिसमें उसके नैत्र बिन्दूओं के रूप में है। उसके सींग मुड़े हुए है। वृषभ की पीठ पर वस्त्र एवं उसके पृष्ठभाग पर त्रिशूल का अंकन है। इसके शीर्ष पर नागरी लिपि में 'श्री महमूद साम' उकरा है।

चांदी की एक गोल मुद्रा **अलाउद्दीन मुहम्मदशाह** (1295-1315 ई.) की संख्याक 666 पर 2.6x2.6 सेमी माप एवं 11.00 ग्राम की है।[27] ये मुद्रा अलाउद्दीन खिलजी की है। उसने उपनाम मुहम्मद शाह से ऐसी मुद्राएं तैयार करवाई थी। वह एक ऐसा सुल्तान था जिसका राज्य

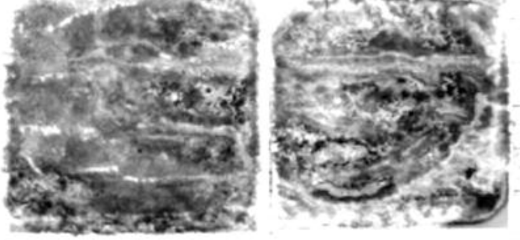

अकबर की मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग)

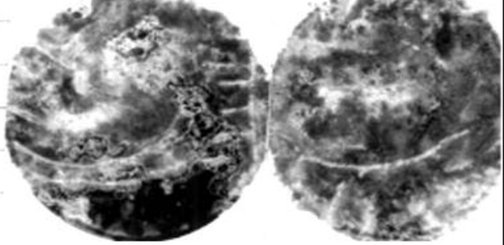

शाहजहां की मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग)

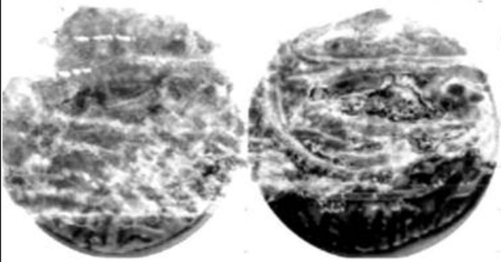

औरंगजेब की मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग)

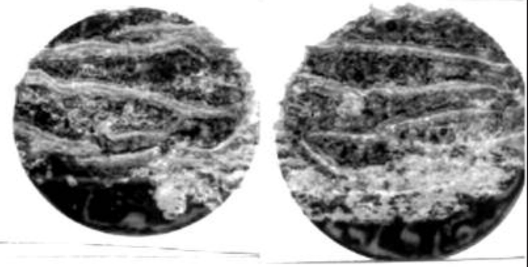

मुहम्मद बहादुरशाह की मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग)

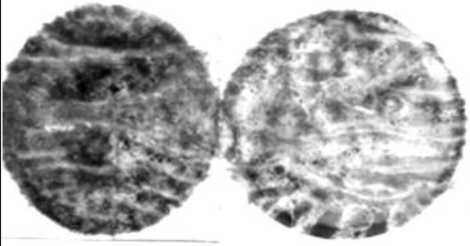

हैदर अली की मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग)

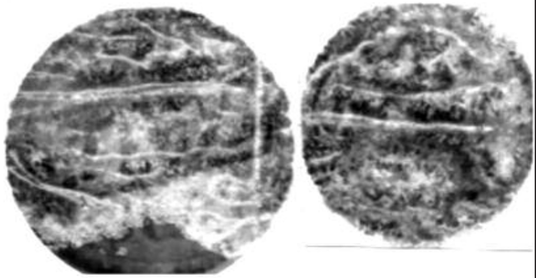

झालावाड़ राज्य की मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग)

दक्षिण भारत तक फैल गया था।[28] इस विजय के कारण उसने दूसरे सिकन्दर की उपाधि 'सिकन्दर अलसनि कामिनुल खिलाफत' धारण की थी। वह पहला ऐसा सुल्तान था जिसने हिज्री तिथियां अपनी मुद्राओं पर अंकित करवाई जिसे सुल्तान मुबारक शाह प्रथम कहते है। 98 चांदी की ऐसी मुद्राएं जो अलाउद्दीन खिलजी से लेकर मुबारक शाह प्रथम व गयासुद्दीन तुगलक से सम्बन्धित है वे विवेच्य भू-भाग के निकट किशनगंज से मिली है जो स्थानीय संग्रहालय में सुरक्षित है। मुद्रा के अग्रभाग पर फारसी में 'अलसुल्तान उल आजम/अलाउद्दीनवलद्दीन। अबुल मुजफफर मुहम्मद शाह/अलसुल्तान' अंकित है जबकि पृष्ठभाग पर 'सिकन्दर अलसानी/यमीनुअल खिलाफत/नासिर अमीर अल मुमेनीन' का अंकन है। मुद्रा के चारो ओर वृत्ताकार अंकन में 'जरबहिन्द अलसिक्का बा हजरत देहली की सनह अरबां अशरू वा सब अमायह' उत्कीर्ण है।

ताम्बे की एक अन्य गोल मुद्रा जो संख्यांक 166 पर प्रदर्शित है 1.5x1.5 सेमी माप तथा 3.53 ग्राम की है।[29] यह भी पूर्वोक्त सुल्तान की है। परन्तु इसके अग्रभाग पर फारसी में मात्र 'शाह मुहम्मद' एवं पृष्ठभाग पर 'अलसुल्तान उन आजम/अलाउद्दीन-वलद्दीन' ही उत्कीर्ण है।

चांदी की दो महत्वपूर्ण मुद्राएं **सम्राट अकबर** (1556-1605 ई.) की है। जिनमें प्रथम मुद्रा संख्याक 667 पर 2.5 x 2.5 सेमी माप एवं 11.8 ग्राम की है। द्वितीय मुद्रा संख्यांक 682 पर 1.8x1.7 सेमी माप एवं 11.24 ग्राम की है।[30] प्रथम मुद्रा के अग्रभाग पर फारसी में

'जलालउद्दीन मुहम्मद अकबर' तथा पृष्ठ भाग पर कलमा 'लाइलाहइल्ललाह मुहम्मदुर्रसूलुल्लाह' अंकित है। द्वितीय चौकोर मुद्रा के अग्रभाग पर हिज्री सन सहित फारसी में पृष्ठभाग पर 'जलालउद्दीन मुहम्मद अकबर-1000' एवं पृष्ठभाग पर पूर्वोक्त मुद्रा के पृष्ठ भाग की भांति कलमा अंकित है।

शाहजहां (1627-1657 ई.) की एक चांदी की गोल मुद्रा संख्यांक 1068 पर प्रदर्शित है। यह 2.8x2.8 सेमी माप एवं 11.52 ग्राम की है।[31] इसके अग्रभाग पर फारसी में 'बादशाह गाजी शाहजहां' तथा पृष्ठभाग पर कलमा शरीफ के साथ जरब (टकसाल) शब्द भी इस प्रकार अंकित है 'लाइलाहइल्ललाह मुहम्मदुर्रसूलुल्लाह जरब सूरत सनह' अंकित है। इस मुद्रा में शाहजहां के नाम के साथ उसकी उपाधि 'गाजी' तथा कलमा का विशेष अंकन है। इसमें टकसाल का नाम सूरत (गुजरात) अंकित है।

चांदी की एक गोल मुद्रा औरंगजेब (1659-1707 ई.) की है। संख्याक 367 पर प्रदर्शित यह मुद्रा 2.6x2.6 सेमी एवं 11.26 ग्राम की है।[32] **औरंगजेब** की मुद्राओं में फारसी में कलमा शरीफ तथा उसकी उपाधि, नाम, हिज्री सन् व टकसाल (जरब) नाम लिखा मिलता है। इस मुद्रा के अग्रभाग पर 'आलमगीर औरंगजेब 1100 शाह जद चौ माहिर मुनीर सिक्कदर जहान तथा पृष्ठभाग पर 'मानूस/मैमनत/सनह जलूस/जरब इटावा' अंकित है।

17वीं सदी की **मुहम्मद बहादुर शाह** की एक चांदी की मुद्रा संख्यांक 223 पर 2.2x2.2 सेमी माप एवं 11.13 ग्राम की है।[33] इसके अग्रभाग पर हिज्री सन सहित फारसी में '1158 मुहम्मद शाह/बादशाह गाजी/सिक्का मुबारक' अंकित है। तथा पृष्ठभाग पर टकसाल स्थान सहित 'मानूस/मैमनत/ सनह 28 जुलूस/जरब सवाई जयपुर' का अंकन है। इस प्रकार दिल्ली के सुल्तानों क्रमशः खिलजी, तुगलक और लोदी राजवंश की स्थानीय संग्रहालय में 16 चांदी की एवं 138 ताम्बे की मुद्राएं सुरक्षित है। मुगल बादशाहों की 187 चांदी की मुद्राएं भी यहां है। हैदरअली (1761-1782 ई.) की एक गोल स्वर्ण मुद्रा संख्यांक 381 पर 1.1x1.1 सेमी माप एवं 3.42 ग्राम की है।[34] इसके अग्रभाग पर फारसी लिपि में (ह) अक्षर का अंकन तथा पृष्ठभाग पर शिव पार्वती का अंकन है। इसमें शिव के दांये कर में त्रिशूल तथा पार्वती उनकी बांयी जंघा पर विराजमान है। यह पृष्ठभाग दानेदार खुदा हुआ है।[35]

झालावाड़ राज्य सन् 1838 ई. में बना और इसकी राजधानी प्रसिद्ध व्यापारिक नगरी झालरापाटन थी।[36] जिसमें इस राज्य की चांदी और ताम्बे की मुद्राएं ढ़ाली जाती थी। इस टकसाल द्वारा चांदी की गोल मुद्राओं में रुपया, अठन्नी, चवन्नी और दुवन्नी प्रचलित थी। इन मुद्राओं को इस राज्य के प्रथम नरेश 'मदनसिंह झाला' के नाम पर 'मदनशाही मुद्रा' कहा जाता था परन्तु ये दो प्रकार की थी।[37] झालावाड़ राज्य की स्थापना के प्रारम्भिक काल में ढ़ली इन मुद्राओं को 'पुरानी मदनशाही मुद्रा' कहा जाता था जो सन् 1838 ई. से 1857 ई. तक की अवधि में प्रचलित रही। सन् 1857 ई. में आन्दोलन के पश्चात ढ़ाली गयी मुद्रा को 'नयी मदनशाही' मुद्रा कहा गया। ये मुद्राएं 1891 ई. तक प्रचलित रही। इस मुद्रा पर महारानी विक्टोरिया का नाम अंकित किया गया था। इस प्रकार पुरानी **मदनशाही मुद्रा** सनाह 1 से सनाह 21 तक ढ़ाली गयी। इसी प्रकार नयी मदनशाही मुद्रा सनाह 34 में ढ़ाली गयी थी जो सबसे अन्तिम थी। दोनों प्रकार की मुद्राओं में भिन्नता रखने के लिये नयी मदनशाही मुद्रा को 'हाली' की मुद्रा कहा गया।[38] ऐसी मुद्राओं पर पंचपंखुड़ी और फूली का चिन्ह होता था।

संग्रहालय के संख्यांक 159 तथा 111 पर प्रदर्शित चांदी की इस राज्य की मुद्राओं में प्रथम मुद्रा 3.0 x 3.0 सेमी माप एवं 11.29 ग्राम की है जबकि द्वितीय मुद्रा 1.7x 1.7 सेमी माप एवं 11.26 ग्राम की है। प्रथम मुद्रा के अग्रभाग पर 'मल्लिका मुआज्जमा/विक्टोरिया/ बादशाह/इंगलिस्तान' अंकित है तथा पृष्ठभाग पर 'मानूस/मैमनत/सनह[39] जुलुस/ जरब झालावाड़' अंकित है। यहां यह भी लेखकीय उल्लेख आवश्यक होगा कि यद्यपि मदनशाही प्राचीन व नयी दोनों प्रकार की मुद्राओं का वर्णन विलियम विल्फ्रेड वैब ने किया था जिसका हिन्दी भावानुवाद डॉ. मांगीलाल व्यास 'मंयक' ने किया। इनमें उन्होंने प्राचीन मदनशाही मुद्रा को सनाह 1 से 21 तक तथा नवीन मुद्रा को सनाह 34 तक अन्तिम रेखांकित किया परन्तु स्थानीय संग्रहालय में उक्त प्रकार की प्रदर्शित

ऐसी मुद्रा में सनाह [39] स्पष्ट उल्लिखित है। प्रतीत होता है पूर्व विद्वान या तो ऐसी मुद्राएं विवेचित न कर पाये अथवा ऐसी मुद्राएं उनकी नजरों से दूर रही होगी।[39] द्वितीय उक्त प्रकार की मुद्रा के अग्रभाग पर 'मल्लिकाह मुआज्जमा/विक्टोरिया/बादशाह/ इंगलिस्तान' तथा पृष्ठभाग पर 'मानूस/ मैमनत/ सनह 19 जुलुस/जरब झालावाड़' का अंकन है।[40]

कोटा राज्य में सन् 1806 से 1837 ई. की दो चांदी की गोल मुद्रा स्थानीय संग्रहालय के संख्यांक 42 व 12 पर प्रदर्शित है।[41] इनमें प्रथम मुद्रा 2.0 x 2.0 सेमी माप एवं 11.29 ग्राम की है। एवं द्वितीय मुद्रा भी इसी माप एवं ग्राम की है। प्रथम मुद्रा के अग्रभाग पर 'बादशाह/मुहम्मद अकबर शाह गाजी/ साहिब किरानसानी सिक्का मुबारक' का अंकन है एवं पृष्ठभाग पर 'मानूस/मैमनत/सनह 11 जुलुस/जरब नन्द कोटा' का अंकन है। इसी क्रम में द्वितीय मुद्रा के अग्रभाग पर 'मुहम्मद बहादुरशाह/ बादशाह गाजी/सिक्का मुबारक' तथा पृष्ठभाग पर 'मानूस/मैमनत/सनह 21 जुलुस/जरब नन्द कोटा' का अंकन है। अर्थात् कोटा महाराव रामसिंह (1827 ई. से 1865 ई.) के काल में बादशाह बहादुरशाह (1837 ई. से 1858 ई.) के नाम से वर्ष 1858 ई. में यह मुद्रा कोटा टकसाल में टंकित की गई। उल्लिखित होगा कि पूर्वोक्त इतिहासकारों क्रमशः वैब तथा डॉ. व्यास ने कोटा राज्य के अनेक सिक्कों के वर्णन में उक्त प्रदर्शित मुद्राओं का कही भी वर्णन नहीं किया है।[42]

बून्दी राज्य की दो चांदी की गोल 18वीं सदी की है जिनमें प्रथम मुद्रा 1759 ई. से 1806 ई. की है। यह मुद्रा संख्यांक 8 पर 2.0x2.0 सेमी माप एवं 11.03 ग्राम की है। द्वितीय मुद्रा संख्यांक 209 पर 1.2 x 1.0 सेमी माप एवं 3.11 ग्राम की है।[43] प्रथम मुद्रा के अग्रभाग पर 'शाह आलम बहादुर/बहादुरशाह गाजी/सिक्का मुबारक' का अंकन है तथा पृष्ठभाग पर 'मानूस/मैमनत/सनह 3 जुलुसी/जरब बून्दी' का अंकन है। द्वितीय मुद्रा के अग्रभाग पर 'मध्य में एक देवी का अंकन है उसके नीचे क्रमशः किंग एडवर्ड-टप्प् व बादशाह' का अंकन है। इस मुद्रा के पृष्ठ भाग पर 'बुंदीश रामसिंह 1950' का अंकन है।

प्रथम मुद्रा बादशाह शाह आलम के शासन के तीसरे वर्ष की है तथा द्वितीय मुद्रा बूंदी की रामशाही मुद्रा का वर्णन मुद्रा विशेषज्ञ वैब ने किया है।[44]

मराठा पेशवा सरदारों की एक गोल चांदी की मुद्रा संख्यांक 220 पर है। यह 2.0x2.0 सेमी माप एवं 9.95 ग्राम की है। मराठों का कोटा, बूंदी राज्यों से 18वीं सदी में बड़ा गहरा राजनैतिक सम्बन्ध रहा। 18वीं सदी में कोटा के प्रधानमंत्री झाला जालिमसिंह के मराठा पेशवाओं से बड़े पारिवारिक सम्बन्ध थे। पेशवा रघुनाथदास, झाला जालिम का बड़ा घनिष्ट मित्र था। प्रस्तुत मुद्रा के अग्रभाग पर 'धनुषाकृति रूप में एक देवी का अंकन है तथा नीचे अंग्रेजी भाषा में 'Large-Frident' का अंकन है। जबकि पृष्ठभाग में केवल 'पेशवा' शब्द का अंकन है।[45]

19वीं सदी ब्रिटिश युग की दो गोल मुद्राएं स्थानीय संग्रहालय के संख्यांक 51 पर हैं। इनमें प्रथम मुद्रा स्वर्ण की है। यह 2.6 x 2.6 सेमी माप एवं 11.63 ग्राम की है। इसके अग्रभाग पर 'विक्टोरिया रानी का अंकन तथा उसके नीचे 'East-India-Company' अंकित है एवं पृष्ठभाग पर One Mohurs 1862' का अंकन है। द्वितीयमुद्रा के अग्रभाग पर 'Bust of Victoriya.1841' एवं पृष्ठभाग पर 'East-India-Company' व इसके नीचे 'One Mohurs ' अंकित है। यह मुद्रा भी स्वर्ण की है तथा यह संख्यांक 52 पर है। 2.6 x 2.6 सेमी माप की इस मुद्रा का वजन 11.59 ग्राम है।[46] विक्टोरिया रानी की संग्रहीत ये मुद्राएं सन् 1841, 1862 व 1884 की है। यहां यह भी उल्लेखनीय होगा कि 18वीं सदी की ऐसी मुद्राएं जो देशी राज्यों व विदेशी प्रभाव की है कुल

142 चांदी की, 139 ताम की व 13 स्वर्ण धातु की है। इस संग्रहालय में एक उल्लेखनीय मुद्रा कृष्णदेव की भी संरक्षित है। यह नरेश मैसूर के राजसिंहासन पर हैदर अली के पुत्र वीर टीपू सुल्तान के बाद सिंहासनारूढ़ हुआ था। झालावाड़ का पुरातत्त्व संग्रहालय राजस्थान के हाड़ौती क्षेत्र (बूंदी-कोटा- झालावाड़) का सबसे पुराना संग्रहालय है जिसे महाराजराणा भवानीसिंह ने 1 जून 1915 ई. में स्थापित किया था।[47] मुद्राओं का यह भण्डार हाड़ौती में अब तक मिली मुद्राओं में सबसे विशाल है जहां गुप्त व कुषाण युग के नरेशों की ऐसी सुन्दर स्वर्ण व रजत मुद्राएं हैं जिनमें भारत की संस्कृति भी उद्भासित है। इन मुद्राओं

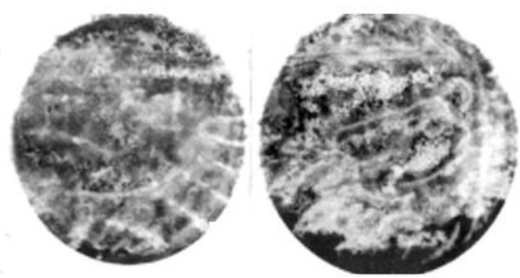

कोटा राज्य की मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग)

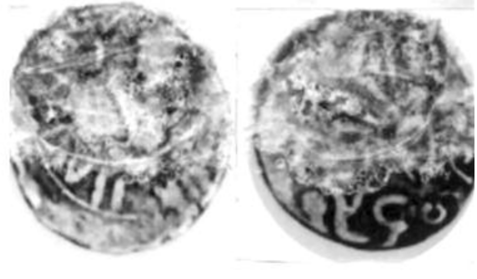

बून्दी राज्य की मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग)

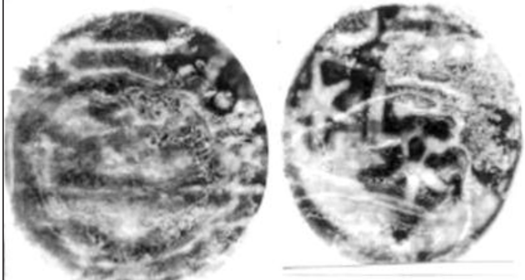

मराठा पेशवा की मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग)

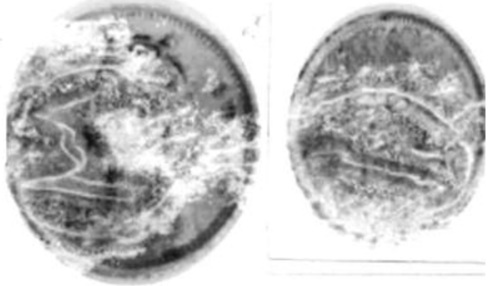

ब्रिटिश युगीन मुद्रा (अग्र एवं पृष्ठ भाग)

के अध्ययन से भारतीय इतिहास के कई युगों के परिदृश्य का प्रामाणिक अध्ययन किया जा सकता है। प्रस्तुत शोधलेख केवल परिचयात्मक इस क्षेत्र में मिली सैकड़ों मुद्राओं पर और गम्भीर विवेचना की आवश्यकता है।

संदर्भ :-

1. The Researcher, Vol-XII-XIII, Year-1972-73, P. 33. **2.** स्थानीय संग्रहालय की प्लेट सं. 19 JHL-1. **3.** (i) हाड़ौती का पुरातत्त्व डॉ. शान्ति भारद्वाज (स.) पृष्ठ 123। (ii) ओझा डॉ. रामप्रकाश - प्राचीन सिक्के, पृ. 28 (आहत मुद्रा) तथा ए.कनिंघम-आर्कियालाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, 1862 ई. भाग-2 पृ. 264। **4.** गुप्त परमेश्वरीलाल-भारत के पूर्व कालिक सिक्के पृ.-326। **5.** प्लेट संख्या 8, JHL-5. **6.** ऊाध्याय वासुदेव - प्राचीन भारतीय मुद्राएं, पृ. 116। **7.** प्लेट संख्या 5, JHL-3। **8.** राजवन्त राव, प्रदीप कुमार राव-प्राचीन भारतीय मुद्राएं, पृ. 181। **9.** प्लेट संख्या वही, 5, JHL-3। **10.** राजवन्त राव - पूर्वोक्त, पृ. वही। **11.** प्लेट संख्या 2, JHL-7, गुप्त परमेश्वरीलाल-प्राचीन भारतीय मुद्राएं, पृ. 52। **12.** राजवन्त राव-पूर्वोक्त पृ. 201। **13.** प्लेट संख्या 2, JHL-4। **14.** गुप्त परमेश्वरीलाल - प्राचीन भारतीय मुद्राएं, पृ. 54। **15.** **(1)** The Researcher-पूर्वोक्त पृ.34। **(2)** अल्तेकर ए.एन.-गुप्तकालीन मुद्राएं (1954 ई.) पृ. 33 एवं 117। **(3)** वी.ए. स्मिथ-क्वाइन्स ऑफ एशियन्ट इण्डिया, भाग-, पृ.105-111। **16.** प्लेट संख्या 17 एवं 5, JHL-1 एवं 3।

17. गुप्त परमेश्वरीलाल-भारत के पूर्व कालिक सिक्के, पृ. 304 व 306। **18.** सिंह औंकारनाथ-गुप्तोत्तर कालीन उत्तर भारतीय मुद्राएं, पृ. 28। **19.** प्लेट संख्या 19, JHL-1। **20.** उपाध्याय वासुदेव-पूर्वोक्त पृ. 168-169। **21.** एपिग्राफ्रिका इण्डिका, भाग-18, पृ.109। **22.** जर्नल ऑफ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया भाग-22, पृ. 276। **23.** प्लेट संख्या 2, 2, 2, JHL-4, 4, 4। **24.** सिंह औंकारनाथ-पूर्वोक्त, पृ. 82-83 एवं वासुदेव उपाध्याय-पूर्वोक्त पृ.173। **25.** प्लेट संख्या 5, JHL-3। **26.** The Researcher- पूर्वोक्त पृ. 35, 36। **27.** प्लेट संख्या 20, JHL-1। **28.** वासुदेव उपाध्याय-पूर्वोक्त पृ. 205 (परिशिष्ट)। **29.** प्लेट संख्या 5, JHL-3। **30.** प्लेट संख्या 20, एवं 20 JHL-1.1। **31.** प्लेट संख्या 13, JHL-1। **32.** प्लेट संख्या 11, JHL-1। **33.** प्लेट संख्या 7, JHL-1। **34.** प्लेट संख्या 2, JHL-3। **35.** The Researcher-पूर्वोक्त। **36.** शर्मा ललित-झालावाड़-इतिहास, संस्कृति एवं पर्यटन, पृ.15। **37.** वेब विलियम विलफ्रेड-द करेन्सीज ऑफ दी हिन्दू स्टेट ऑफ राजपूताना, पृ.98। **38.** मंयक मांगीलाल व्यास (अनु.)-वेबकृत राजपूताना के सिक्के, पृ. 126-128 एवं शर्मा गोपीनाथ- राजस्थान के इतिहास के स्त्रोत, पृ.37। **39.** लेखक द्वारा सामुख्य अध्ययन प्लेट सं. 5 एवं 4 JHL-1 एवं 2B. **40.** लेखक द्वारा सामुख्य अध्ययन प्लेट सं. 4, JHL-2B. **41.** प्लेट सं. 2 एवं 1 JHL-2C एवं 2A. **42.** लेखक द्वारा सामुख्य अध्ययन। 43. प्लेट संख्या 1 एवं 6, JHL-2C एवं 2A. **44.** मंयक मांगीलाल व्यास (अनु.)-पूर्वोक्त, पृ. 108 से 111। **45.** लेखक द्वारा सामुख्य अध्ययन, प्लेट नं. 7, JHL-1। **46.** उक्त प्लेट संख्या 2 एवं 2, JHL-4 एवं 4। **47.** शर्मा ललित-झालावाड़ के प्रमुख शिलालेख, पृ.23।

•

जैकी स्टूडियो, 13-मंगलपुरा,

झालावाड़-326001 (राज.)

मो. 9829896368

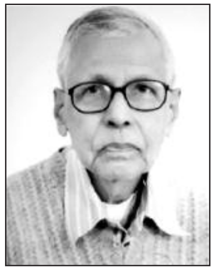

श्री जीतेंद्रनाथ जौहरी *केंद्र सरकार के खान सुरक्षा महानिदेशालय (धनबाद) से उप महानिदेशक पद से सेवानिवृत हैं। इतिहास-पुरातत्व में गहन रुचि के कारण अपने सेवाकाल में आपने पूरे भारत में सभी प्रकार की खानों (भूमिगत, ओपन कास्ट, द्वीप पर, समुद्र में तेल कूप) का निरीक्षण करते समय कितने ही पुरातात्विक एवं ऐतिहासिक स्थलों का भी निरीक्षण किया और उनका विवरण भी लिखा। आप द्वारा विभिन्न स्रोतों से एकत्र एवं लिखित* ***जानने योग्य रोचक जानकारियां*** *वैचारिकी के विभिन्न अंकों में 'पाठक मंच' में प्रकाशित होती रही है। इनके द्वारा भेजी गई विपुल सामग्री इस विशेष 'पाठक मंच' में सधन्यवाद प्रस्तुत की जा रही है।*

सबसे बड़ा पक्षी-शिल्प

वाल्मीकि रामायण के एक प्रसंग के अनुसार गृद्धराज जटायु विशालकाय एवं अत्यंत बलशाली थे, वनवास के दौरान राम, लक्ष्मण एवं सीता से उनका परिचय हुआ था। कुछ समय उपरान्त, जब रावण छल से सीता को आकाशमार्ग से ले जा रहा था, सीता ने जटायु को एक वृक्ष पर देखा और उनसे रावण से मुक्त कराने की पुकार लगाई। जटायु ने पहले तो रावण को समझाने की चेष्टा की, विफल होने पर उससे युद्ध किया। रावण ने तलवार से जटायु के अंग भंग कर दिये जिससे वे घायल होकर गिर गये। रावण फिर से सीता को आकाश मार्ग से ले उड़ा। राम से मिलने के बाद जटायु का देहांत हो गया। यह मानते हुए कि केरल के चेदयमंगलम, जि. कोल्लम में जटायु का देहान्त हुआ था, वहां पर एक भव्य जटायु नेचर पार्क बनाया गया है जिसमें पहाड़ी पर जटायु की विशाल मूर्ति बनायी गयी है। यह विश्व का सबसे विशाल पक्षी-मूर्तिशिल्प है जिसकी ऊंचाई 21 मीटर है और उसके पंखों की लम्बाई 60 मी. तथा चौड़ाई 45 मीटर है। कुछ समय पूर्व इस पहाड़ी पर एक बड़ा गिद्ध देखा गया जो काफी देर वहां अठखेलियां करता रहा और वहां उपस्थित लोग उसका वीडियो बनाते रहे।

सम्राट अशोक निर्मित स्तूप, स्तम्भ एवं शिला लेख

304 ईसा. पूर्व मौर्य वंश में अशोक का जन्म पाटलीपुत्र (पटना, बिहार) में हुआ उनका राज्याभिषेक 270 ईसापूर्व में हुआ, राज्य विस्तार के लिये उसने अनेक युद्ध किये। कलिंग (ओडिशा) युद्ध में उसने विजय प्राप्त की। इस युद्ध में मरने वालों की संख्या अत्यधिक थी। मरने वालों के आश्रितों के क्रंदन एवं आंसुओं को देख विजय की प्रसन्नता का स्थान दुख और पश्चाताप ने ले लिया। वह शांति चाहने लगा। एक बौद्ध भिक्षु के उपदेश से उसने बौद्ध धर्म को अपनाया।

बुद्ध के निर्वाण (483 ई. पूर्व) के 250 वर्ष उपरांत उसने बिहार में बोध गया (जहां सिद्धार्थ को केवल-ज्ञान मिला जिससे वे बुद्ध हुये) में मंदिर बनवाया। सन् 1993 में गुलबगी जिले (कर्ना.) में एक सर्वेक्षण हेतु खुदाई में कनगनाहल्ली में एक दरार युक्त शिल्प मिला जिसमें एक राजा के दोनों ओर रानियां, पीछे एक दासी छत्र और दूसरी चंवर लिये खड़ी हैं, शिल्प के नीचे ब्राह्मी लिपि में 'राण्यो अशोक' लिखा है (स्पष्ट होता है कि शिल्प सम्राट अशोक का ही है)।

कुछ वर्षों उपरांत ओडिशा में भी इसी तरह का पैनल मिला था, जिसके नीचे 'सम्राट अशोक' लिखा है। इसी के समीप के स्थान पर प्राचीन स्तूप के अवशेष मिले हैं। ललित गिरि, ओडिशा में तीसरी सदी ईसा पूर्व की एक भगवान बुद्ध की /अवशेष मंजूषा मिली है।

बौद्ध स्तूपों में बुद्ध/उनके शिष्य के अवशेष या वस्तुएं स्थापित की जाती थीं। अशोक द्वारा निर्मित दो महत्वपूर्ण स्तूप सारनाथ (उ.प्र.) एवं सांची (म.प्र.) में हैं।

1. धामेक स्तूप, सारनाथ : 249 वर्ष ईसापूर्व ईंटों

धामेक स्तूप, सारनाथ (वाराणसी)

से बनाया गया, इसका व्यास 28 मीटर एवं ऊंचाई 91 मीटर है। इस स्थान पर बुद्ध ने पहला उपदेश देकर धर्म-प्रवर्तन किया था। पुरातत्व वेत्ताओं का मत है कि मूल स्तूप को कालांतर में छह बार आकार में बढ़ाया गया। स्तूप पर ब्राह्मी लिपि में लेख एवं मनुष्य, पक्षी, फूलों के पैटर्न देखे जा सकते हैं। इसके नीचे का भाग बेलनाकार है, ऊपर का भाग अर्ध गोलाकार है। इसी के समीप मूलगंध (कुटीर जिसमें बुद्ध रहे थे) वाटिका विहार एवं अशोक स्तम्भ है।

2. **सांची स्तूप** संख्या-1 : यह भारत का सबसे प्राचीन प्रस्तर निर्मित ढांचा/संरचना है। इसका व्यास 36.5 मीटर और ऊंचाई 16.4 मीटर है। इसी के समीप चमकाये हुए प्रस्तर पर अशोक का आदेशात्मक लेख है, जिसमें बौद्ध समुदाय को विखराव व एक से अधिक विचार धारा से आगाह किया गया है। कालान्तर में प्रथम सदी ईसापूर्व में सतवाहन सम्राटों के समय इस स्तूप के बाहरी तरफ चार द्वार बनवाये गये जो कि अत्यंत कलात्मक हैं। इन द्वारों पर दानकर्ताओं के नाम लिखे हैं और शिल्पकारों की प्रशस्ति जिन्होंने स्वर्णकारों जैसी दक्षता से प्रस्तर पर सुन्दर शिल्प बनाये। इन पर तीन प्रकार की कथायें भी दर्शाई गई हैं– (क) युवराज वेसंतरा के त्याग की जिन्होंने दान हेतु अपनी सम्पत्ति, पत्नी एवं बच्चों को भी छोड़ दिया था। (ख) बुद्ध के पिछले जन्मों की कथा जैसे– जब वे वानर थे और उन्होंने अपने साथियों की जान बचाने के लिए अपने जीवन की आहुति दी थी। (ग) बौद्ध धर्म का इतिहास। इन द्वारों पर पशु, पक्षी, मनुष्य, गंधर्व एवं बोधि-पूजन का अंकन है। ऐसा लगता है कि एक पैनल में अशोक प्रतिमा है। बोधि स्तुति वाले पैनलों में ऊपर माला लिये गंधर्व दिखाए गये हैं।

सांची द्वार (म.प्र.)

एक पैनल में वृक्ष है जिस पर पुष्पों का अंकन है और ऊपर गंधर्व भी हैं। यह संभवतः कल्पवृक्ष है, क्योंकि बोधि वृक्ष (पीपल) में पुष्प नहीं होते।

एक अन्य पैनल में अशोक स्तम्भ में चार सिंह (चार दिशाओं में) के ऊपर चक्र बना है। इसी प्रकार का एक बड़ा स्तंभ थाईलैंड के वाट-यू-मोंग के समीप चियांग मिया में अभी भी देखा जा सकता है।

एक द्वार पर दाहिनी ओर तीनों स्थान पर

सर्पिल/कुंडलाकार बने हैं, ये सृजन (शक्ति) को दर्शाते लगते हैं।

2. अशोक स्तम्भ : स्तंभ मुख्यतया प्रस्तर निर्मित हैं, इनके शीर्ष पर सिंह बने हैं एवं कुछ में लेख भी अंकित हैं। ऐसे स्तंभ अनेक स्थानों पर मिले हैं– 1. फिरोजशाह कोटला, दिल्ली, 2. कौशाम्बी (प्रयागराज से 60 किमी. दूर), 3. कोल्हुआ, वैशाली (बिहार), 4. सारनाथ (उ.प्र.)। मेहरौली, दिल्ली में स्तंभ लोहे का है, विशेषता यह है कि 2250 वर्ष के उपरांत भी इसमें जंक नहीं लगा है। यह प्रमाणित करता है कि भारत प्राचीन समय में भी धातु विज्ञान में अग्रणी रहा है। एक स्थान पर स्तंभ के ऊपर सिंह के स्थान पर बैल बना है।

आदेशात्मक शिलालेख : अशोक अच्छा प्रशासक भी था, उसने अपने राज्य के विभिन्न भागों में अपने आदेश के शिलालेख निर्मित करवाये, इनमें 16 बिन्दुओं में निर्देश थे और मुख्यतया अहिंसा, सभी समुदायों के प्रति सहिष्णुता इत्यादि का उल्लेख था। उत्तर प्रदेश, गुजरात, बिहार, ओडीशा, कर्नाटक में इन्हें देखा जा सकता है। कर्नाटक में कम से कम 20 शिलालेख पाये गये हैं। उत्तर प्रदेश में सारनाथ, मध्य प्रदेश में सांची, ओडिशा में धौली एवं जौगढ़, कर्नाटक में गवीमठ, सन्निटी, ब्रह्मगिरि, कनकगिरि, गंगावटि, मस्की में हैं। धौली के शिलालेख के पास पहाड़ी काटकर हाथी बना हुआ है, जो इस प्रकार की प्राचीनतम कृति है। गुजरात के जूनागढ़ में भी शिलालेख विद्यमान है। गवीमठ, कोप्पल (कर्नाटक) के शिलालेख स्पष्ट हैं। अधिकांश लेख संस्कृत, पाली एवं मागधी में हैं और इनकी लिपि ब्राह्मी है। मस्की (कर्ना.) के छोटे शिलालेख के समीप के स्थान में प्राचीनतम भारतीय कांच का टुकड़ा एवं बेलनाकार मुहर प्राप्त हुए हैं। निट्टूर (कर्ना.) के शिलालेख में अशोक ने कहा है कि मेरा साम्राज्य अति विशाल है और वह परथिया का शासक है। पर्थिया से पर्सिया-ईरान का तात्पर्य प्रतीत होता है।

अशोक अपनी पत्नियों के साथ

मैहरोली, दिल्ली का लौह स्तम्भ

गंधार (अफगानिस्तान) में प्राप्त तीसरी सदी ईसापूर्व का एक लेख दो भाषाओं में है– ग्रीक एवं अरायमैक

4. अन्य : 1. अशोक कालीन सिक्के : उस काल में मुद्रा का नाम कर्षापण था। (i) एक सिक्के के एक तरफ तीन आकृतियां, पक्षी एवं कुछ चिह्न बने हैं, दूसरी ओर भी आकृति व चिह्न बने हैं। (ii) दूसरे सिक्के में एक तरफ सर्प बना है और एक चिह्न है, दूसरी ओर चार अर्ध चन्द्र, सूर्य का भाग एवं अन्य चिह्न हैं।

2. मौर्य कालीन पत्थर का छल्ला : यह विदेश में The Metropolitan museum of Art में संग्रहित है। इसका काल 323-185 ईसा पूर्व पाया गया है। इसका व्यास 5.9 सीएम. है। इसके बीच में छेद है और किनारे उठे हुए हैं। इसकी एक annular ring में चार स्थान पर देवी बनी हैं और उनके बीच में वृक्ष (जो खजूर के प्रतीत होते हैं) हैं। इसे प्रजनन शक्ति की पूजा से संबद्ध समझा गया है।

चंद्रावती, सिरोही (राज.) में खुदाई से इसी प्रकार का पत्थर का छल्ला प्राप्त हुआ है। (3) अमरावती स्तूप दूसरी सदी ई.पू. बना था, चेन्नई संग्रहालय में इसकी प्रति छवि उपलब्ध है।

कुछ अद्‌भुत वास्तु संरचनाएं

1. कोल्हापुर (महाराष्ट्र) का महालक्ष्मी मंदिर 1300 वर्ष प्राचीन है, महालक्ष्मी की मूर्ति 1.0 मी. ऊंची एवं 2000 वर्ष पूर्व की है। दक्षिणायन एवं उत्तरायन (नवम्बर एवं जनवरी) में सूर्य की किरणें तीन दिन कुछ समय के लिये मूर्ति पर पड़ती हैं। वर्ष 2018 में 9, 10, 11 नवम्बर को क्रमशः पहले दिन सूर्य का प्रकाश चरणों पर, दूसरे दिन धड़ तक एवं तीसरे दिन पूरी मूर्ति पर पड़ा (अवधि 5 मिनट)।

महालक्ष्मी मंदिर, कोल्हापुर

महालक्ष्मी, कोल्हापुर

2. बंगलुरू (कर्नाटक) का गवी गंगाधरेश्वर शिव लिंग एक गुफा में स्थित होने पर भी, मकर संक्रांति के दिन कुछ समय के लिये सूर्य की किरणें लिंग पर पड़ती हैं।

3. कुम्भकोणम (तमिलनाडु) के भुजपठीश्वर शिव लिंग पर श्रावण मास में चार दिन सूर्य का प्रकाश एक स्तम्भ की तरह कुछ समय के लिए लिंग पर पड़ता है।

4. अजन्ता (महाराष्ट्र) की एक गुफा में स्थित बुद्ध प्रतिमा पर वर्ष में एक बार सूर्य का प्रकाश पड़ता है।

5. कोणार्क मंदिर (ओडिशा) में सूर्य का प्रकाश विभिन्न रंगों में कुछ समय के लिए दिखता है। कहा जाता है कि सूर्य कहीं भी हो पुरी के जगन्नाथ मंदिर के कलश की परछाई नहीं पड़ती है।

लीपक्षी, अनन्तपुर (आ.प्र.) के वीरभद्र मंदिर के 70 खम्भों में से एक ऐसा भी है जो छत से लटका हुआ है, निचले भाग और फर्श के बीच से पतला कपड़ा आर-पार/इधर से उधर निकाला जा सकता है। मदुरै के मीनाक्षी मंदिर के कुछ खंभे ऐसे हैं जिनपर लकड़ी का डंडा मारने से उनसे संगीतमय ध्वनि निकलती है।

पंचभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) स्वरूप शिव के पांच मंदिर हैं। चिदम्बर आकाश तत्व का द्योतक है। कांचीपुरम (त.ना.) का एकाम्बरम पृथ्वी एवं कालाहस्ती (तिरुपती से प्रायः 30 कि.मी.) वायु तत्व के द्योतक हैं। यह आश्चर्यजनक है कि तीनों मंदिर (चिदम्बरम, एकाम्बरम्, कालाहस्ती) एक ही सीधी रेखा पर विद्यमान हैं, जिसकी स्थिति 79 डिग्री-41 मिनट देशांतर रेखांश (Logitude) है, इसकी पुष्टि गूगल पर की जा सकती है। चिदम्बरम : चिद् + अम्बर = चिदम्बर, अर्थात 'चिदाकाश'। पश्चिम के वैज्ञानिकों ने 8 वर्ष के अनुसंधान के उपरांत जाना कि नटराज (चिदम्बरम मंदिर, तमिलनाडु) का पैर का अंगूठा विश्व की चुम्बकीय मध्य रेखा का केंद्र बिन्दु है। चिदम्बरम मंदिर की अन्य विशेषतायें हैं। मंदिर की छत पर 21600 स्वर्ण के पतरे लगे हैं, मनुष्य सामान्यता एक दिन में 21600 बार एक मिनट में श्वास लेता और छोड़ता है। उपरोक्त स्वर्ण पत्तरे 72000 स्वर्ण कीलों से जुड़े हैं, मनुष्य शरीर में 72000 नाड़ियां होती हैं। पश्चिम के विद्वान भी नटराज की नृत्य मुद्रा को ब्रह्माण्डीय/ दैवी नृत्य मानते हैं। स्वर्ण छत पर 9 कलश हैं, जो नौ प्रकार की शक्तियों की ओर इंगित करते हैं। अर्ध मंडप में 6 स्तम्भ हैं जो 6 शास्त्रों (षड दर्शन) के द्योतक हैं। इसके समीप के मंडप में 18 स्तम्भ हैं जो 18 पुराणों के द्योतक हैं। अपने आध्यात्मिक हृदय तक पहुंचने के लिए 5 चरण हैं, जिन्हें पंचपदी Si, Va, Ya, Na, Ma (Sivaya Namah) कहा जाता है। मंदिर के गर्भगृह पोन्नामबलम् तक पहुंचने के लिए भी 5 सीढ़ी बनी हैं।

मेहकर बालाजी (विष्णु)

यह मंदिर बुलढाणा (महा.) जिले में प्रणीता नदी के तट पर मेहकर में स्थित है। इसकी बालाजी (विष्णु) की मूर्ति कई कारणों से अतिविशिष्ट है– 1. मूर्ति की ऊंचाई 3.5 मीटर (11 फिट 3 इंच) एवं चौड़ाई 0.93 मीटर (3 फिट) है। सबसे ज्यादा ऊंचे कद की मूर्ति है। 2. इसके बाईं ओर महेश एवं दाईं ओर ब्रह्मा बने हुए हैं, इस कारण से इसे त्रिनाथेश्वर की संज्ञा भी प्राप्त है। मुकुट में विष्णु का एक अवतार श्रृंगधर उकेरा हुआ है। 3. इसके परिकर में दोनों ओर पांच-पांच छोटी मूर्तियां खुदी हुई हैं, जो कि दशावतार की परिचायक हैं। 4. मूर्ति के पैरों के पास वैकुण्ठ के द्वारपाल जय-विजय की मूर्तियां हैं। 5. मूर्ति के बाईं ओर पैरों के पास श्री देवी (लक्ष्मी) की मूर्ति है, दाहिनी ओर दूसरी पत्नी भूदेवी की मूर्ति है। 6. चतुर्भुज मूर्ति के ऊपर के हाथों में चक्र एवं गदा है। नीचे के बायें हाथ में शंख है और दाहिने हाथ में एक पुष्प एवं सर्प हैं। 7. मुखारबिन्द से स्पष्ट है कि देव मुस्करा रहे हैं। 8. मूर्ति तीन रूपों के दर्शन होते हैं– प्रातः–बालरूप, अपराह्न-युवा, संध्या-प्रौढ़।

इतिहास के अनुसार वर्ष 1888 में खुदाई के समय वन क्षेत्र में चंदन के 4.5 मीटर लम्बे बक्से में मूर्ति एवं कुछ ताम्रपत्र मिले थे। ब्रिटिश लोग इस मूर्ति को लंदन ले जाना चाहते थे, किन्तु ग्रामीण लोगों ने आनन-फानन में मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा सम्पन्न कर दी, जिस कारण मूर्ति को अन्यत्र नहीं ले जा सके। नाराज प्रशासन ने 60 ग्रामीणों को जेल में बंद कर दिया था। ताम्रपत्र ब्रिटेन भेज दिये गये थे। अतः उन पर क्या अंकित था, नहीं पता लग सका।

सोमावथी बौद्ध स्तूप

श्रीलंका में स्थित सोमावथी बौद्ध स्तूप इन कारणों से महत्वपूर्ण है– 1. इसकी ऊंचाई 71 मीटर है, गुम्बद बड़ा भव्य है। 2. कलश बड़े आकार का एवं ठोस स्वर्ण का है। 3. कलश के ऊपर 30x20 सै.मी. माप का तराशा हुआ अंडाकार स्फटिक है, ऐसा केवल इसी स्थान पर है। 4. वर्ष में एक निर्धारित दिन कलश एवं स्फटिक को अर्चना हेतु शृंगारित किया जाता है, ऊपर पहुंचने के लिए लम्बे बांसों से ढलान वाला मचान बनाया जाता है, बौद्ध भिक्षु उस पर रेंग कर कलश तक पहुंचते हैं। 5. स्तूप के गुम्बद के भीतर एवं पास की दीवारों पर स्वर्ण से चित्रकारी की गई है। 6. गौतम बुद्ध का एक दांत प्रतिष्ठित है। 7. इस स्तूप के ऊपर कई बार इसमें प्रकाशपुंज देखा गया, जिसके फोटोग्राफ कई गणमान्य व्यक्तियों ने क्लिक किये थे जो मठ में उपलब्ध हैं। अधिकतर व्यक्तियों की यह मान्यता है कि यहां अंतरिक्ष से यू.एफ.ओ. आते हैं, जिनका कुछ संबंध कलश के ऊपर रखे स्फटिक से है।

रामाप्पा मंदिर

यह शिव मंदिर वारंगल (आ.प्रदेश) से 80 कि.मी. दूरी पर ग्राम पालमपेट में स्थित है। इसके समीप स्थित बड़ा जलाशय इस स्थान को रमणीय बना देता है। मंदिर एवं जलाशय का नाम वास्तु-शिल्पी रामाप्पा के नाम पर है। एक शिलालेख के अनुसार 'काकटिया' साम्राज्य काल में रेचारला रुद्र नामक व्यक्ति ने इसका निर्माण सन 1213 में कराया था। मंदिर की कुछ विशेषतायें–

1. इसका आधार सितारे के आकार में है। नींव में ग्रेनाइट पत्थर के चूरे के साथ अन्य मिश्रण भी भरा गया था। 2. कुछ ऊँचाई तक मंदिर का निर्माण बलुआ पत्थर से किया गया, इसके ऊपर का भाग हल्की ईंटों (जो पानी पर तैरती हैं) से किया गया, जिनका निर्माण मंदिर के समीप ही हुआ था। ईंटों की यह तकनीक 800 वर्ष पूर्व थी, अत्यंत आश्चर्य है (वर्तमान में ऊंचे भवन बनाने हेतु इस प्रकार की ईंटें बनाई जाती हैं)। ये भूकम्प के विनाशकारी प्रभाव से बचाव करती हैं। सन् 1820 के भूकम्प में मंदिर टूटा नहीं था, केवल फर्श के स्लैब/टायल ऊपर-नीचे हुए थे। 3. मंदिर की बाहरी परिधि में प्रायः 520 हाथी उकेरे हुए हैं, जो भिन्न-भिन्न भंगिमा में हैं।

4. मंदिर के खम्भे अत्यंत कलात्मक हैं, इन पर छोटे आकार में नृत्यांगनायें बनी हैं। नृत्य विशेषज्ञों का मानना है कि वे नृत्य शैली की सटीक भाव भंगिमा प्रस्तुत कर रही हैं। कुछ स्थानों पर कारीगरी अत्यंत सूक्ष्म है, वहां पर पतली सींक को ऊपर से नीचे की ओर डाला जा सकता है। 5. मुख्य मंडप का आधार चार विशाल स्तम्भ हैं। 6. मंदिर के भीतर काले बैसाल्ट पत्थर से निर्मित 12 देवदासियों की बारीकी से गढ़ी मूर्तियां हैं। इन मूर्तियों में अत्यधिक चमक है, जबकि उनके आधार वाली बैसाल्ट पट्टी में कोई चमक नहीं है। शोधकर्ता प्रवीन मोहन के अनुसार इसका कारण पत्थर पिघलाने की तकनीक रही होगी। पेरू (मैक्सिको) में पुरास्थलों पर पत्थरों में चमक देखी गई है, जिसका कारण यह rock melting तकनीक बताई जा रही है।

इससे इस मंदिर के वास्तु-शिल्पी की योग्यता एवं दक्षता का आभास मिलता है, इसी से मंदिर का नाम उनके नाम पर रखा गया था।

सूक्ष्म शिल्प

800 वर्ष प्राचीन दारासुरम मंदिर, कुंभकोणम (त.ना.) में ये सूक्ष्म शिल्प उकेरे हुए हैं–1.5 से.मी. में नन्दी जिसके सभी भाग भली भांति उकेरे गये हैं। 2.5 सेमी. में अनेक भुजाओं वाले शिव। 3.2.5 सेमी. में नृत्य गणपति। 4.2 से.मी. में शिव-पार्वती। 5. 2.5 सेमी. में याचक शिव, जिनके हाथ का पात्र काली मिर्च के दाने के आकार का है। निष्कर्ष यह कि 800 वर्ष पूर्व भी पतली ड्रिल जैसा औजार व्यवहार में था एवं शिल्पकार भी अत्यंत दक्ष थे, तभी इस प्रकार के शिल्प सटीक प्रकार से बनाये जा सके, जिनमें कोई कमी नहीं निकाली जा सकती है।

मिस्र के प्राचीन उकेरे हुए शिल्प

इन प्राचीन उकेरी आकृतियों चिह्नों (Heiroglyphs) की यह विशेषता है कि रेखाओं की चौड़ाई बहुत कम है (2 मि.मी.)। आश्चर्य है कि इन्हें किस विधि से उकेरा गया होगा, क्योंकि छेनी-हथौड़ी से बनाना असंभव है। स्काटलैंड एवं मिस्र के चित्रित चिह्नों में ट्यूनिंग फार्क (Tuning Fork) देखा गया है। कुछ शोधकर्ताओं का मानना है कि ट्यूनिंग फार्क का निचला हिस्सा नुकीला होगा और इसमें उपयुक्त विधि से कम्पन पैदा कर ड्रिलिंग करना संभव है। मिस्र के पुरा संग्रहालय में विभिन्न माप की ट्यूनिंग फार्क रखी हुई हैं। यद्यपि पूरी प्रक्रिया अधिक स्पष्ट नहीं है। वर्तमान में औद्योगिक कार्यो हेतु सोनिक ड्रिलिंग पद्धति उपलब्द्ध है।

होयसलेसरा मंदिर

900 वर्ष प्राचीन यह शिव मंदिर हेलेबिडु, कर्नाटक में स्थित है। यहां वास्तुकला की अनुपम छटा देखने को मिलती है। मूर्तियों के शरीर, परिधान, अलंकार एवं अन्य वस्तुओं का निर्माण उत्कृष्ट एवं दोषविहीन है। किस प्रकार इन्हें गढ़ा गया, स्पष्ट नहीं है।

1. यहां भारत का 7वां बड़ा नंदी है, इसमें पालिश की चमक इतनी है कि हम अपना मुख इसमें देख सकते हैं।

टेलिसकोप (होयसलेसरा मंदिर)

2. बाहर की मूर्तियों में एक देवता की है, जिन्हें 'माप' का देवता कहते हैं। इनकी 6 भुजा हैं। बाईं ओर की दो भुजाओं में डमरू एवं एक डंडे पर कंकाल मुख (जैसा कि वामदेव का होता है) है। दाहिनी ओर एक हाथ में एक घिर्‌री (Gear) है, जिसमें 32 दांत हैं, इसके भीतर एक अन्य घिर्री बनी है, जिसमें 16 दांत हैं।

3. बाहरी दीवार में कम चौड़ाई के पैनल एक के ऊपर-एक हैं, जिनमें विभिन्न प्रकार के शिल्प उकेरे हुए हैं।

4. मंदिर के स्तम्भों पर मशीनिंग के निशान देखे जा सकते हैं, कई व्यास की गोलाकार चूड़ियां जैसी बनी हैं। कैसे बनाया होगा?

5. मंदिर के भीतर अनेक सुन्दर मूर्तियां/शिल्प हैं- - दुर्गा, शिव- पार्वती, शिव-पार्वती नन्दी पर, अंतरिक्ष

यात्री, चक्रव्यूह, कैलाश पर्वत उठाते हुए रावण, मिस्र निवासी इत्यादि।

6. एक 2.2 मी. ऊंची मूर्ति के मुकुट पर 5 खोपड़ियाँ बनी हैं जो चमकीली हैं (पालिश की गई हों) वे सभी खोखली हैं, यदि एक आंख में तीली डालें तो, दूसरी ओर कान से निकल जायेगी। सामान्य विचार यही है कि इन्हें मुख्य मूर्ति पर अलग से चिपका दिया गया होगा, किन्तु पुरा विद्वान यह मानते हैं कि ऐसा नहीं था, ये मूल मूर्ति के साथ ही बनी हैं। यह आश्चर्यजनक है कि इस प्रकार की रचना किस प्रकार की गई होगी।

मुकुट में खोपड़िया (होयसलेसरा मंदिर)

7. एक स्त्री प्रतिमा के हाथ में चंवर है। गले में हार पहने हैं जो देखने से एक ही प्रतीत होता है, किन्तु मध्य भाग में टार्च की रोशनी डालने से पता चलता है कि दो हार हैं, दोनों के बीच थोड़ी सी जगह है। ऐसा शिल्प गढ़ने के लिए तकनीक एवं दक्षता चाहिए।

8. एक छोटे आकार के शिल्प में स्त्री टैलस्कोप से देख रही है, इतना बारीक काम किस प्रकार सम्पन्न किया होगा?

9. कुछ अन्य मूर्तियों के पास अंडाकार वस्तु है, जिसमें दानों वाली रेखाएं हैं। किन्हीं में हैंडल भी है। इस प्रकार का शिल्प अन्य देशों के देवताओं के हाथों में भी दिखता है और यह संयोग मात्र नहीं है। शोधकर्ता प्रवीण मोहन के अनुसार यह वस्तु पालिश करने का उपकरण है, वर्तमान में इस उद्देश्य हेतु व्यवहत उपकरण जैसा ही। निष्कर्ष यह कि भारत में प्राचीन काल में उच्च तकनीक भी थी। यह कहना कठिन है कि वर्तमान के शिल्पकार ऐसी गुणवत्ता वाली मूर्तियां बना सकेंगे।

कुछ रोचक शैल चित्र एवं शिल्प

शैल चित्र : दक्षिण भारत के गांव Onake Kindi में अनेक शैल चित्रों में अन्य ग्रह के यान UFO एवं

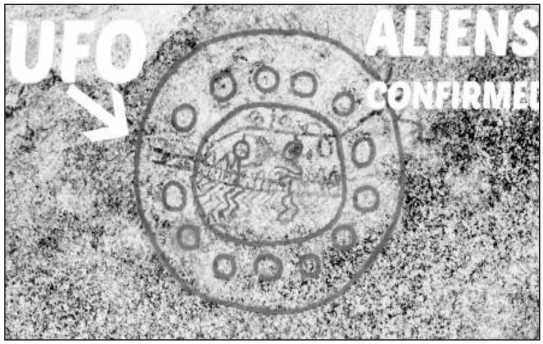

अंतरिक्ष यात्री भी देखे जा सकते हैं। यू.एफ.ओ. में दो वृत्त के भीतर कुछ सामान रखा है, नीचे दो व्यक्ति बैठे हुए थे, जिनकी टांग लहरिया लाइन से दिखाई गई हैं, एक सीढ़ी भी उनके हाथों के नीचे रखी हुई है। उनके सिर के ऊपर एक लम्ब रेखा भी बनी है, जिससे ऐंटीना का आभास होता है।

एक अन्य चित्र में दो व्यक्ति (ऐलियन) बने हैं, सिर के ऊपर ऐंटीना की छोटी सी रेखा है, हाथों के नीचे शरीर/स्पेस सूट से 4 तार निकले हुए दिखते हैं।

शोधकर्ता प्रवीन मोहन के अनुसार प्राचीन समय का मानव शैल चित्रों में अपने आसपास की वस्तुओं को ही दर्शाते थे– अपने साथी, जानवर जिनका आखेट होता था, आखेट के चित्र, नृत्य इत्यादि। उनका मस्तिष्क इतना विकसित नहीं था कि कल्पना से उक्त प्रकार का चित्रण कर सकें, अवश्य ही उन्होंने जो देखा उसका चित्रण किया होगा। इससे पहले 800 कि.मी. से अधिक दूरी पर छत्तीसगढ़ राज्य में यू.एफ.ओ. एवं ऐलियन के शैल चित्र प्राप्त हो चुके हैं। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है यू.एफ.ओ. एवं ऐलियन विभिन्न स्थानों पर भारत में भी आते रहे हैं।

शिल्प : 1. दारासुरम शिव मंदिर, कुम्भकोणम (तमिलनाडु) के एक शिल्प में एक नन्दी एवं हाथी बने हैं, किन्तु उनका सिर एक ही, इस प्रकार संयुक्त बना है कि नन्दी का मुंह एवं हाथी का मुंह दोनों ही देखे जा सकते हैं। 2. एक शिल्प में एक स्त्री बैठे व्यक्ति के शरीर

पर चौड़ी पट्टी जैसा कपड़ा लपेट रही है, जिसे ममी बनाने की प्रक्रिया कह सकते हैं। हिमाचल प्रदेश में एक प्राचीन ममी है। 3. एक शिल्प में बैठे व्यक्ति ने घंटी के आकार जैसी हैल्मैट पहनी हुई है, जिसके ऊपर ऐंटीना जैसी बनी हैं। हैल्मैट में आंखों के स्थान पर छेद भी बने हुए हैं। 4. एक शिल्प में एक स्त्री अपने कान के पास एक वस्तु रखे हुए है जो कि वर्तमान में व्यवहारित मोबाइल फोन जैसा प्रतीत होता है। एक अन्य स्त्री एक हाथ में कुछ पकड़े है, दूसरे हाथ में पैन जैसी कोई वस्तु है। प्रवीन मोहन के अनुसार वर्तमान की टैबलेट एवं स्टाइलस लगते हैं, रोचक है कि ये वस्तुएं प्राचीन समय में क्यों कर दर्शाई गई, उस समय व्यवहार में थीं क्या? 5. 1000 वर्ष प्राचीन मोढ़ैया सूर्य मंदिर (गुज.) में विश्वकर्मा की प्रतिमा में, उनके हाथों में फुटरूल एवं इंचटेप बने हैं।

ऐरावतेश्वर शिव मंदिर, कुम्भकोंणम (तमिलनाडु)

यह मंदिर सन् 1166 में पूर्ण रूप से बन गया था। इसमें छोटे-बड़े आकार के अनेक आकर्षक शिल्प हैं जिनमें कुछ आश्चर्यजनक हैं– 1. पत्थर की सीढ़ी जिसके 7 पायदानों पर चलने से सरगम के 7 स्वर निकलते हैं, अन्य एक पायदान पर चलने से ॐ ध्वनि (आ-उ-म) निकलती है, सुरक्षा हेतु इसे लोहे के सरियों से निर्मित बाड़े में बंद कर रखा गया है।

2. मंदिर के गर्भगृह के बाहर छोटे शिल्प के अनेक पैनल हैं, इनमें से एक में एक स्त्री योगासन में बैठी दिखती है। हाथ के पंजे आगे की ओर भूमि पर टिके हैं, पैर पीछे की ओर मोड़कर (सिर के दोनों ओर), सिर भूमि पर आगे की ओर पंजों के बल टिका दिया है। ताला, जि. बिलासपुर (म.प्रदेश) में एक 6-7वीं सदी का पुरास्थल है, यहां पर एक बड़े आकार का वैसा ही शिल्प है, जैसा कि ऊपर वर्णित है। इन दोनों की सामानता आश्चर्यजनक है।

प्राचीन मंदिरों में विलक्षण शिल्प

शोधकर्ता श्री प्रवीन मोहन ने यू ट्यूब पर अनेक वीडियो डाले हैं, उन्होंने विभिन्न शिल्पों की विवेचना भी की है।

1) **गुडीमल्लम शिव मंदिर (द.भा.)–** इस मंदिर में कुछ बड़े पत्थर हटाने पर भूमिगत मार्ग प्रशस्त होता है, जहां काले पत्थर का एक मानव लिंग देखा जा सकता है। इस लिंग की सतह पर ओवल/अंडाकार आकार के भीतर शिव मूर्ति उकेरी हुई है, जिनके पैरों के तले राक्षस दबा है। इसी प्रकार की आकृति एक अन्य मंदिर के बाहर पैनल/पट्टी पर भी देखी गई है। श्री प्रवीण मोहन के अनुसार– टोपी सहित लिंग आकृति एक अंतरिक्षयान के समान है, जिसमें से शिव बाहर निकल रहे हैं। लिंग जिस पत्थर का बना है वह अपने देश में नहीं पाया जाता है। निष्कर्ष यह कि शिव दूसरे लोक से धरती पर अंतरिक्षयान से आये थे। भूमिगत इसकी स्थापना इसे गुप्त रखने की मंशा से की गई थी। एक धर्म प्रचारक सदगुरु ने भी अपने वीडियो में ऐसा ही विचार व्यक्त किया है कि शिव ऐलियन थे और उन्होंने स्वयं ऐसे साक्ष्य देखे थे कि ऐलियन कैलाश-मानसरोवर क्षेत्र में सक्रिय हैं।

मेरा विचार : लिंग से निकलते हुए शिव से आशय है कि दोनों में भिन्नता नहीं है। श्री मोहन ने यह स्पष्ट नहीं किया कि शिवलिंग किस पत्थर का है, उसकी क्या विशेषता है। अंतरिक्ष से पत्थर लाकर उसे आकार देना तर्कसंगत नहीं लगता है। आक्रमणकारियों से सुरक्षित रखने हेतु अनेक स्थानों पर लिंग/मूर्तियां भूमिगत रखी जाती थी। हमारे पुराणों एवं अन्य ग्रंथों में अनेक स्थान पर शिव का उल्लेख है। अतः शिव के ऐलियन होने की संभावना नगण्य है।

एक इंच व्यास में उकेरे हुए हाथी के शिल्प से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन समय में भी बहुत छोटे आकार की ड्रिल मशीन उपयोग की जाती थी। यह सही है।

(क) **गंगा कोंडाय, चोलापुरम शिव मंदिर** (द.भा.) यहां एक शिल्प में शिव मूर्ति के पीछे एक वृक्ष

पर दो छोटे बैग लटके हुए दिख रहे हैं। सुमेरू सभ्यता के शिल्प में भी पुजारी के हाथ में इसी प्रकार का बैग बना है, टर्की के गोयलबल टेपे में भी एक ऐसा बैग वाला शिल्प प्राप्त हुआ था। (ख) **दारासुरम शिव मंदिर, कुम्भकोणम (त.ना.)** के एक प्रकाश रहित भाग में एक शिल्प देखा गया– शिवलिंग के समीप एक वृक्ष है और वहां एक लम्बी दाढ़ी वाला संत खड़ा है, जिनके हाथ में एक छोटा बैग है। श्री मोहन के अनुसार वह ब्रह्मा है और बैग में लिंग से ऊर्जा एकत्रित कर रहा है। इस शिल्प को शिव, ब्रह्मा एवं Tree of life कहा गया है।

श्री मोहन के अनुसार यह बैग बैटरी है। इन सभी शिल्पों में बैग की समानता आश्चर्यजनक है। दारासुरम मंदिर के कुछ अन्य विचित्र शिल्प– वीडियो में एक शिल्प में दिखाया गया है– एक व्यक्ति टोपा पहने हुए साईकल चला रहा है, जिससे निष्कर्ष निकाला गया कि प्राचीन समय में साईकल का ज्ञान उपलब्ध था। एक सज्जन ने बताया कि यह शिल्प (1907ई.) बाली द्वीप (इंडोनेशिया) के एक मंदिर का है; किन्तु वीडियो देखने से मंदिर भारतीय भव्यता का लगता है। इसके अतिरिक्त Time Travel Temple Found- Darasurm नामक वीडियो में कुछ अन्य शिल्प देखने को मिले– एक स्त्री जिसका मुख गणेश जैसा है एवं पंख भी हैं। एक स्त्री जिसके पंख है, एक बैठे बालक के समीप खड़ी है। एक पशु जो 3 लाख वर्ष पूर्व लुप्त हो चुका था। श्री प्रवीन मोहन के मतानुसार उपरोक्त शिल्प किसी अन्य समय/काल के जीव दर्शाते हैं, जिनके संबंध में शिल्पकार को किसी ऐसे व्यक्ति ने बताया होगा जो कि अंतरदृष्टि का धनी रहा होगा।

होयसलेश्वर मंदिर (द.भा.) के 900 वर्ष प्राचीन शिल्प में मिस्र निवासी दर्शाया गया है, जिसकी पहचान उसकी वेष-भूषा से हुई, उसने लंगोट के ऊपर एक लबादा पहना हुआ है, जो कि बीच में से खुला है।

इसी प्रकार **कोणार्क** मंदिर के एक शिल्प में एक भारतीय के पीछे अंग्रेज एवं चीन निवासी खड़ा है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि सुदूर देशों के निवासी पूर्व में भी भारत आते-जाते रहे हैं।

सबसे विशाल **श्रीरंगम मंदिर** (2000 वर्ष प्राचीन) में अनेक रहस्यमय शिल्प उकेरे हुए है।

एक शिल्प में एक व्यक्ति के घुटनों पर एक बालक लेटा हुआ है और उस व्यक्ति ने डमरू सरीखी वस्तु को उसके हृदय स्थल पर रखा हुआ है। वर्तमान में उपरोक्त वस्तु से मिलता-जुलता एक उपकरण है, जिसे व्यक्ति की हृदय धड़कन को ठीक करने हेतु काम में लाया जाता है।

थिरुमलाई जैन मंदिर (द.भा.) : इस प्राचीन मंदिर में प्रवेश करने पर सामने की ओर एक गोलाकार चित्र दिखता है, जिसके भीतर अन्य रंग से 2 अन्य गोले बने हैं, एक रेखा पर 4 पंखे (Propellers) भी बने हैं, कुछ तार भी दर्शाये गये हैं। श्री प्रवीन मोहन ने विचार व्यक्त किया है कि यह 'चक्र विमान' का चित्रांकन है, जो कि तर्कसंगत प्रतीत होता है। मंदिर के और भीतर जाने पर सफेद पत्थर की एक तीर्थंकर की मूर्ति देखने को मिलती है, जो कि महावीर स्वामी की है, इस मूर्ति के पीछे कुछ अन्य मूर्तियां (काले रंग की) हैं, जिन्हें उनका रक्षक बताया जाता है। इन मूर्तियों में कुछ ऐसी हैं जिनके पंख बने हैं एवं कुछ के सर्प फण हैं।

ऐलोरा (महा.) का कैलाश मंदिर : कहते हैं यह मंदिर एक महारानी ने बनवाया था। उनके पति गम्भीर रूप से अस्वस्थ थे, उन्होंने शिव से मन्नत मांगी थी कि पति के स्वस्थ होने पर एक भव्य मंदिर बनवायेंगी और जब तक उसका शिखर नहीं देख लेंगी कठिन व्रत का पालन करेंगी। राजा स्वस्थ हो गया, रानी ने कठिन व्रत का संकल्प ले लिया, तब ध्यान आया कि मंदिर को बनते-बनते कलश तक पहुंचने में तो बहुत समय लगेगा और ऐसे में महारानी का प्राणांत हो सकता है। तब दक्ष वृद्ध शिल्पकार ने सुझाव दिया कि विशाल चट्टान को काटते हुए सर्वप्रथम मंदिर का कलश बनाया जाए, जिसके दर्शन कर महारानी व्रत पालन करें और फिर नीचे की तरफ मंदिर बनाए जाए, परंतु शिल्पकार ने बताया कि यदि मंदिर की कटाई ऊपरी भाग से आरम्भ की गई तब भी एक वर्ष तो चाहिए ही। इस पर उन्होंने शिव से सहायता की याचना की, उन्हें एक औजार प्रदान किया गया, जिसकी सहायता से ऊपर से नीचे की तरफ निर्माण तेज गति से हो सका। इस विशाल

मंदिर के नीचे एक गुफा है, जिसका मुख बंद रखा गया है, शोध के अनुसार गुफा में एक स्थान से हानिकारक विकिरण होता है। जिसका स्रोत वह दिव्य औजार माना जाता है।

गुप्तेश्वर शिव मंदिर : यह प्राचीन मंदिर मध्य प्रदेश के हरदा जिले में ग्राम चरूआ, (तहसील- खिरकिया) के बीहड़ में स्थित है। इस स्थान पर पूर्व में एक टीला था जिसकी पूजा आदिवासी करते थे। एक शिव भक्त को स्वप्न हुआ कि उस स्थल पर मंदिर है। प्रायः 150 वर्ष पूर्व उस टीले की खुदाई करने पर एक शिव मंदिर मिला, इस कारण नाम हुआ गुप्तेश्वर। मान्यता है कि मंदिर 5000 वर्ष प्राचीन है। एक वीडियो के अनुसार उत्तरायन एवं दक्षिणायन शुरू होने पर सूर्य की प्रथम किरण लिंग पर पड़ती है, फिर शिव लिंग एक अलौकिक प्रकाश पुंज से ढक जाता है, जो कि 7-8 मिनट तक रहता है (अप्रैल-मई, सितम्बर-अक्टूबर)। मंदिर पुरातन शैली में पत्थरों से निर्मित है। मंदिर के पीछे की भूमि पर एक अनोखा चक्रव्यूह (भूल-भुलैया) बना है। इस मंदिर में शिवलिंग पर सिन्दूर भी चढ़ाया जाता है।

सौम्य काली : डोड्डागड्डवल्ली Doddagaddavalli महालक्ष्मी मंदिर हसन (कर्नाटक) से 16 कि.मी. दूरी पर स्थित है, इसे होयसल साम्राज्य के राजा विष्णुवर्धन ने सन् 1114 में बनवाया था। इसके समीप ही एक सुन्दर जलाशय है। इस मंदिर परिसर में महालक्ष्मी मंदिर के अतिरिक्त सौम्य काली, विष्णु एवं शिव (लिंग) मंदिर भी हैं। सौम्य काली के गर्भगृह जाने वाले गलियारे में दोनों ओर बड़े आकार की दिगम्बर (नग्न) भूतनाथ मूर्तियां हैं, जिनकी जिव्हा बाहर निकली हुई हैं। दीवार पर डाकनियाँ भी बनी हैं। यह काली मूर्ति काले पत्थर से निर्मित हैं जिसकी कई भुजायें हैं, जिनमें शस्त्र पकड़े है। त्रिशूल एवं तलवार स्पष्ट रूप से दिखते हैं, क्योंकि आकार में बड़े है। मूर्ति सौम्य है, जिव्हा मुंह से बाहर नहीं निकली हुई है। काली की सामान्य मूर्तियों से यह भिन्नता है। मूर्ति के मस्तक पर मुकुट भी है, मूर्ति के परिकर में छोटे आकार की मूर्तियां उकेरी गई हैं।

महालक्ष्मी मूर्ति 0.9 मी. ऊंची है, चार भुजायें है, जिनमें वह शंख, चक्र, माला एवं गदा लिये हुए है। दोनों ओर सेविकायें खड़ी हैं। मंदिर का शिल्प बेजोड़ है, कलाप्रेमी चेष्टा कर देखें। मंदिर के खम्भों में अनेक व्यास की गोलाई हैं, जो मशिनिंग से ही बनाई जा सकती हैं। एक स्थान पर छत में शिव तांडव-नृत्य करते हुए बनाये गये हैं। बड़ी बारीकी से छोटे वृत्तों में शिव, वरुण, वायु, अग्नि देव अपनी-अपनी पत्नी के साथ अपने वाहनों पर उकेरे गये हैं, पीछे की ओर खाली जगह है, इस प्रकार की रचना छेनी एवं हथौड़े से कदापि संभव नहीं लगती।

महाबलीपुरम में पत्थरों पर उकेरे शिल्प : चेन्नई से 56 किमी. दूरी पर समुद्र तट पर स्थित महाबलीपुरम में बड़े आकार के पत्थरों पर उकेरी प्रतिमायें देखने को मिलती हैं, जो कि 1300 वर्ष प्राचीन हैं। इनके समीप तक समुद्र का जल पहुंचता है। इस कारण इनका स्वरूप पहले जैसा नहीं रहा, फिर भी उन्हें पहचाना जा सकता है। एक पत्थर पर बड़े आकार का महिषासुर बना है, जिसकी जिह्वा मुंह के बाहर निकली हुई है। उसके ऊपर कुछ ऊंचाई पर एक गहरा आला है, जिसमें महिषासुरमर्दिनी दुर्गा बनी है, उस स्थान पर पूजा में प्रयुक्त हल्दी एवं कुमकुम के निशान हैं।

एक अन्य शिला पर भागता हुआ अश्व एवं हाथी स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। शोधकर्ता प्रवीन मोहन के अनुसार किसी मंदिर के निर्माण से पूर्व, शिल्पकार उसका माडल बना कर देखते थे। कुछ दूरी पर अत्यंत बड़े आकार के पत्थरों को बारीकी से तराशकर पाँच रथ/ मंदिर बनाये गये हैं, जिनमें मूर्तियां भी हैं, इन्हें पंच पांडव रथ कहते हैं। महाबलीपुरम- का रथ मंदिर सबसे विशाल है और नक्काशी के लिए लोकप्रिय है। यह 27 मीटर लंबा और 9 मीटर चौड़ा है। इस व्हेल मछली के पीठ के आकार की विशाल शिला पर ईश्वर, मानव, पशुओं और पक्षियों की आकृतियां उकेरी गई हैं।

इस समुद्र-तटीय मंदिर (शोर टेम्पल) को दक्षिण भारत के सबसे प्राचीन मंदिरों में माना जाता है जिसका समय 8वीं शताब्दी है। यह मंदिर द्रविड़ वास्तुकला का बेहतरीन नमूना है। यहां तीन मंदिर हैं। बीच में भगवान विष्णु का मंदिर है जिसके दोनों तरफ शिव मंदिर हैं। इसका निर्माण नरसिंह बर्मन प्रथम ने कराया था।

यहां के पांच में से चार रथों को एकल चट्टान पर उकेरा गया है। द्रौपदी और अर्जुन के रथ वर्ग के आकार के हैं जबकि भीम रथ रेखीय आकार में है। धर्मराज रथ सबसे ऊंचा है। द्रौपदी के पांच रथमंदिर हैं, क्योंकि उसके पांच पति थे।

कृष्ण मंडपम- मंदिर की दीवारों पर ग्रामीण जीवन की झलक देखी जा सकती है। एक चित्र में भगवान कृष्ण को गोवर्धन पर्वत को उंगली पर उठाए दिखाया गया है।

गुफाएं– वराह गुफा विष्णु के वराह और वामन अवतार के लिए प्रसिद्ध है। साथ ही पैनल के चार मननशील द्वारपालों के पैनल के लिए भी वराह गुफा चर्चित है। 7वीं शताब्दी की महिसासुर मर्दिनी गुफा भी पैनल पर नक्काशियों के लिए खासी लोकप्रिय है।

मंदिरों में झूलती, पत्थर से बनी जंजीरें : एक ही पत्थर को तराश कर बनाई गई ये जंजीरें वास्तव में एक अजूबा है, तीन मंदिरों में ये देखने को मिलती हैं– **1**.वर्धराजा पेरूमल (विष्णु) मंदिर कांचीपुरम् महाबलीपुरम (त.ना.)- इस मंदिर को हस्तगिरि भी कहते हैं, यह विष्णु के 108 पवित्र दिव्य देशम में से एक है। यह सन् 1053 में बना था, इसे चोल राजाओं ने बनवाया था। इसके 100 स्तम्भ वाले बड़े सभागृह में रामायण एवं महाभारत के प्रसंग उत्कीर्ण हैं। इस मंदिर में आचार्य रामानुज ने भी निवास किया था। 16वीं सदी में इसमें फिर कलाकृतियां बनवाई गई थी। पत्थर की जंजीर, जिसमें अनेक गोले है काफी लम्बी है, झूलते सिरे पर एक पत्थर का सुन्दर शिल्प भी जुड़ा हुआ है। आज के शिल्पकारों के लिए यह जंजीर एक बड़ी चुनौती है। सभी गोले या चूड़ियां इंटरलॉक हैं।

यलेंडूर, जि. चामराजनगर (त.ना.) का गौरीश्वर शिव मंदिर बाले-मन्तपा : बाले का अर्थ है चूड़ी- और मन्तपा का अर्थ द्वार। यह मंदिर सन् 1550 में बना था। इसमें पत्थर की आठ जंजीरें हैं, पत्थर की प्रत्येक मोटी चूड़ी का व्यास 20 सेमी. है। मंदिर में अनेक स्तम्भ ऐसे हैं जिनमें गोलाई के अतिरिक्त ज्यामिति सम्मत पैटर्न/ रचना भी हैं, इन्हीं पर अनेक मूर्तियां एवं पौराणिक प्रसंग उकेरे गये हैं– अंधकासुर का वध, नृसिंह अवतार, कृष्ण द्वारा कालिया नाग मर्दन, अर्जुन द्वारा मछली की आँख भेदना, बंदर द्वारा शिव का अभिषेक, गणेश इत्यादि। यहां प्राचीन कन्नड़ लेख भी उपलब्ध हैं। एक प्राचीन कुआं भी है। मंदिर की छत पर भी वास्तु के कई पैटर्न हैं।

वैथीश्वरा शिव मंदिर, तालाकाडू : यह मंदिर मैसूर से 45 कि.मी. दूरी पर है। इसके बाहरी भाग में उकेरी गई प्रतिमायें अति सुन्दर हैं। मंदिर में शिव की एक बड़ी एवं सुन्दर मूर्ति है, इसके अतिरिक्त एक शिवलिंग भी है। यह मंदिर 10वीं सदी का है एवं 14वीं सदी में इसमें कुछ सुधार किये गये थे। यहां पर जंजीर, दो-दो चूड़ी/झल्ले की देखी जा सकती है, रोचक बात यह है कि यह पंचमुखी नाग के मुंह के पास से झूल रही है, नाग पूंछ सहित बना है।

थानुमलयन हनुमान मंदिर : यह मंदिर 9वीं शताब्दी का है एवं सुचिन्द्रम, कन्याकुमारी (त.ना.) में स्थित है। इसकी विशेषता है कि मंदिर के गोपुरम में एक लाख मूर्तियां बनी हुई हैं। इसमें संगीतमय पत्थर के खम्भे भी हैं।

प्राचीनतम शिव लिंग : अरुणाचलेश्वर लिंग, तिरुवन्नामलाई (त.ना.) में है, इसका उल्लेख शिवपुराण में मिलता है। परशुराम शिव लिंग 5000 वर्ष प्राचीन बताया जाता है जो तिरुपति (आ.प्र.) से 20 किमी. दूर पहाड़ी जंगल में स्थित है। इस स्थान का नाम गुडिमल्लम है। भवनियार शिवलिंग वाराणसरी से 18 किमी. दूरी पर 4000 वर्ष प्राचीन है जो हाल ही में खुदाई से प्राप्त हुआ है।

सबसे बड़ा 5.5 मी. का शिवलिंग भोजपुर (भोपाल) के मंदिर में है। इस मंदिर को बनाने में 45 वर्ष लगे एवं यह 1000 वर्ष प्राचीन है। लिंग अत्यंत चिकना एवं चमकदार है, जिसे लेजर तकनीक से बनाया गया होगा। श्री यगन्ती उमा महेश्वर, करनूल (आ.प्र.), मंदिर की नन्दी प्रतिमा समय बीतने पर बढ़ रही बताते हैं, 20 वर्ष में 2.5 सेमी. बढ़ गई।

भूतेश्वर शिव मंदिर : 8वीं सदी का यह मंदिर पुणे से 45 किमी. दूर स्थित है। मंदिर का बाहरी भाग ऐसा बना है कि मस्जिद होने का आभास होता है, संभवतः मुसलमान आक्रमणकारियों की दृष्टि से बचा रहे इसलिए ऐसी बनावट की गई। किन्तु इस पर कई बार आक्रमण

हुए, बेजोड़ मूर्तियों को तोड़ा गया। फिर भी जो कुछ बचा है, वह भी महत्वपूर्ण एवं दर्शनीय है। कलाकृतियां अत्यंत सुन्दर हैं। रामायण एवं महाभारत के प्रसंग देखे जा सकते हैं। जिन स्थानों पर से मूर्तियां तोड़ी गई, उनके पीछे के स्थान को देखने से ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि उन्हें किसी चिपचिपे पदार्थ से चिपकाया गया था, अत्यंत आश्चर्यजनक तकनीक प्रतीत होती है। रामायण का एक प्रसंग उत्कीर्ण है जिसमें धनुष से निकला तीर आगे जाकर कई तीरों में परिवर्तित हो जाता है। महाभारत का प्रसंग है– भीष्म बाणों की शय्या पर लेटे हैं। मंदिर में विनायकी मूर्ति भी उकेरी हुई है, जिसमें गणेश का स्त्री रूप बनाया हुआ है। इस मंदिर का जीर्णोद्धार कालांतर में छत्रपति शिवाजी के पोते ने करवाया था।

वृंदावन का बांके बिहारी मंदिर : यह मंदिर अनेक भक्तों की श्रद्धा एवं आस्था का केंद्र है, इसकी स्थापना सन् 1864 में हुई थी। मूर्ति के सामने एक परदा सदैव लगा रहता है, जिसे हर 1-2 मिनट बाद खोला-बंद किया जाता है, अभिप्राय है कि देवता को कोई एक-टक न निहार सके। मूर्ति स्वयंभू बताई जाती है। वृंदावन के निधिवन में रहने वाले संगीत मर्मज्ञ स्वामी हरिदासजी की आयु जब 90 वर्ष थी, उनकी भक्ति एवं तपस्या के कारण निधिवन में राधा-कृष्ण की मूर्तियाँ प्रकट हुई थी। जब हरिदासजी (तानसेन एवं बैजू बावरा के गुरु) एक का शृंगार कर रहे होते तब दूसरी नाराज हो जाती। अंततः दोनों की एक संयुक्त-सी मूर्ति बन गई, जिसका प्राकट्य सन 1625 में हुआ था। इस कारण इस मूर्ति के आधे भाग का शृंगार कृष्ण के अनुरूप एवं दूसरे भाग का राधा के अनुरूप किया जाता है।

कुछ वर्षों तक मूर्ति की सेवा निधिवन में ही होती रही, इसके उपरांत हरिदासजी ने इसे अपने भाई को सौंप दिया। उन्होंने 95 वर्ष की आयु में जीवित समाधि ली थी। मूर्ति का प्राकट्य स्थान एवं हरिदासजी का समाधि स्थल निधिवन में देखे जा सकते हैं, समाधि स्थल पर एक चित्र रखा है, जिसे राधा की सखी ललिता का बताया जाता है। ऐसी मान्यता है कि हरिदासजी द्वापर युग में ललिता सखी थे।

बांके बिहारी मंदिर के सेवादार गोस्वामियों के अनुसार शयन आरती के बाद गर्भगृह के दरवाजे से ऐसी आवाज आती है कि जैसे कोई गर्भगृह से बाहर जा रहा है। वस्तुतः श्रीकृष्ण रात्रि 12 बजे रास हेतु निधिवन जाते हैं एवं वहां से भोर 4 बजे वापस लौट आते हैं।

प्राचीन काल में भी डीएनए की जानकारी थी : पुर्तगाल में एक किसान के खेत से एक पत्थर निकला था, जिस पर डीएनए का चिह्न स्पायरेल (Spiral) बना हुआ था जो ईसापूर्व 3500 वर्ष पूर्व का बना है। मेसोपोटेमिया सभ्यता के समय में की गई नक्काशी में भी इसी प्रकार का स्पायरेल देखा जा सकता है। ऋग्वेद में भी इसका उल्लेख बताया जाता है। प्राचीन भारतीय मंदिरों में की गई नक्काशी में भी इससे मिलता-जुलता स्पायरेल देखने को मिलता है।

देवताओं के वाहन : शिव का नन्दी- लेपाक्षी, कर्नूल (आ. प्र.) में स्थित नन्दी की लम्बाई 8.23 मी., ऊंचाई 4.5 मी. है। महानन्दीश्वरा, कर्नूल 8 मीटर लम्बाई, ऊंचाई 4.5 मी. है। चामुंडा हिल्स, मैसूर (क.) में लम्बाई 7.6 मीटर, ऊंचाई 4.9 मी. भन्जनगर, उड़ीसा में ऊंचाई 4.5 मी.। बंगलोर में भी बड़े आकार का नन्दी है। होसालेश्वर मंदिर हम्पी (क.) एवं गगनकोंडा, अरियलूर (त.ना.) के नन्दी भी दर्शनीय हैं। रामेश्वरम मंदिर के नन्दी की लम्बाई 3.6 मी., ऊंचाई 2.75 मी. है।

विष्णु का गरुड़ : सबसे बड़े आकार का धातु से निर्मित गरुड़ बाली, इंडोनेशिया में सार्वजनिक उद्यान में पहाड़ी पर है जिसकी ऊंचाई 75 मीटर है और आधार सहित इसकी ऊंचाई 122 मीटर है। कम्बोडिया में एक मूर्ति में गरुड़ रथ पर आसीन हैं, जिसे एक बहुमुखा नाग खींच रहा है। उदयपुर (राज.) के 300 वर्ष प्राचीन जगदीश मंदिर में बड़े आकार का पीतल से निर्मित गरुड़ है। बदराना, झाड़ोल, जि. उदयपुर (राज.) के हरि-हर मंदिर में गर्भगृह के बाहर एक तराशे पत्थर पर गरुड़ उकेरा हुआ है, जिसके नीचे लिखे सम्वत के अनुसार यह 1000 वर्ष प्राचीन है।

मूषक-ध्वज : कई विष्णु मंदिरों के सामने गरुड़-ध्वज होता है, लेकिन जगदीश मंदिर मार्ग (उदयपुर) पर स्थित अष्टभुजा गणेश मंदिर में मूषक-ध्वज स्थित है, यहां गर्भगृह के बाहर एक 1.2 मी. ऊंचे स्तम्भ पर मूषक

की मूर्ति विराजमान है। इस प्रकार का शिल्प अन्यत्र शायद ही हो।

कुछ अन्य विशिष्ट वास्तु-शिल्प

कम्बोडिया का प्रीह विहार : कम्बोडिया में एक 510 मी. ऊंची पहाड़ी पर 1000 वर्ष प्राचीन प्रीह विहार (Preah Vihear) के भग्नावशेष देखे जा सकते हैं। इस पहाड़ी पर पांच तलों या स्तरों पर मंदिर हुआ करते थे। पहाड़ी के चारों ओर कटे/तराशे पत्थर चुने गये हैं, इस कारण यह संरचना एक पिरैमिड जैसी प्रतीत होती है जिसके ऊपर का भाग नहीं बनाया गया हो। स्थानीय जनता की मान्यता है कि यह उनके बौद्ध धर्म से संबंधित स्थान था।

एक मंदिर की सीढ़ी के प्रारम्भ में दोनों ओर रक्षक विशालकाय सप्तफणी नाग है, नाग के शरीर को बड़े पत्थर जोड़कर बनाया गया था, जिनके ऊपरी भाग को गोलाई दी गई है। पूरा शरीर 30 मी. लम्बा है, पूंछ का अंतिम भाग लम्बवत है। नाग के फणों के मुख खुले हैं एवं उनके भीतर दांतों को भी बनाया गया है। पंख और शरीर पर लाइने बनाई हुई हैं जो कि सर्प की खाल को दर्शाती हैं। प्रचलित है कि प्राचीन समय में एक राजकुमार ने नाग राजकुमारी से विवाह किया था, उनसे ही वर्तमान के कम्बोडिया के नागरिकों की उत्पत्ति हुई थी। वहां सप्तफणी नाग की पूजा इसी कारण से की जाती है।

इस प्रकार के सर्प-शिल्प दक्षिण-पूर्व में पाये जाते हैं। कम्बोडिया में रैटल सर्प नहीं पाये जाते है, रैटल सर्प की पूंछ का आखरी हिस्सा दोलन करता रहता है। पहाड़ी पर सीढ़ियों से ऊपर जाने पर एक मंदिर के द्वार की चौखट के ऊपरी भाग में सर्प रूप रस्सी के द्वारा समुद्र मंथन दिखाया गया है एवं उसके नीचले भाग में शेषनाग शय्या पर विष्णुजी विश्राम करते हुए बनाये गये हैं, उनके साथ लक्ष्मी भी हैं। इस आधार पर श्री मोहन प्रवीन ने मत व्यक्त किया है कि यह मंदिर बौद्ध धर्म से संबंधित न होकर, सनातन धर्म अनुयायियों का था। सप्तफणी नाग की पूंछ रैटल सांप के प्रकार की दिखाई गई है। रैटल सांप पूंछ के दोलन के कारण आवाज को नहीं सुन सकता, केवल कम्पन को महसूस करता है। मोहन प्रवीन ने विशेष प्रयत्न कर, नाग की गर्दन पर भीतरी भाग में एक रोचक डायग्राम देखा था (जो कि समय बीतने से हल्का हो गया था)। यह रचना एक वृत्त के भीतर बनी थी एवं उनके अनुसार यह Sound Frequency से संबंधित थी, किसी frenquency की ओर ध्यान आकर्षित करने हेतु। मेरे विचार से यह डायग्राम ॐ की Frequency से संबंधित हो सकता है, क्योंकि यह पूरे ब्रह्मांड में Vibrate हो रही है (जैसा कि वैज्ञानिकों ने खोज कर पाया है)। मंदिर के एक अन्य तल पर काल (समय) देवता की एक छोटी मूर्ति है, तीन ओर पत्थरों से बनी दीवार हैं। मूर्ति के पीछे, दीवार के बाहरी ओर पत्थर से तराशा एक द्वार है, जिस पर रंग किया गया है (द्वार खुलता नहीं है)। पत्थरों में अनेक छिद्र हैं, कारण स्पष्ट नहीं है।

कम्बोडिया का प्राचीन पिरैमिड 'कोहकेर' (Koh Ker) **:** माया सभ्यता सरीखा यह पिरैमिड 1000 वर्ष प्राचीन है। ऊपर जाने हेतु केवल एक दिशा में ही सीढ़ियां थी, जो कि ध्वस्त हो चुकी थी। इनके स्थान पर अन्य सीढ़ियां बनाई गई, जो पिरैमिड के बगल में हैं। यहां के पुरातत्व विभाग यह मानता है कि पूर्व के समय में पिरैमिड के ऊपरी भाग पर 4.5 मीटर ऊंचा स्फटिक का लिंग स्थापित था, जिसके संबंध में एक शिलालेख उपलब्ध है। पिरैमिड के दूसरी ओर एक छोटा सा मंदिर था, जिसमें स्थापित हाथी की मूर्ति की पूजा प्रचलित थी। स्थानीय जनता की मान्यता है कि उपरोक्त शिव लिंग की स्थापना इन्द्र ने की थी, जो कि अभी भी जीवित हैं।

शोधकर्ता प्रवीन मोहन ने पिरैमिड के ऊपर जाकर पाया कि ऊपर केवल बड़े आकार का एक छिद्र देखा जा सकता है, लिंग क्यों नहीं रहा, स्पष्ट नहीं है। लोगों का कहना है कि कुछ सदी पहले आये भूकम्प से वह नीचे धंस गया। इतनी ऊंचाई पर निर्जन वन में शिवलिंग की स्थापना का क्या कारण रहा होगा? प्रवीन मोहन का मत है कि– शिवलिंग का कुछ भाग भूमि में रहने के कारण इसका माप 9 मीटर हो सकता है। इसे Radio Signal प्राप्त करने के लिए बनाया गया होगा, जो कि अंतरिक्ष यान द्वारा आते होंगे। हाथी इन्द्र देव का वाहन है, इसलिये उसकी पूजा प्रचलित थी। आज के समय में निर्मित बौद्ध स्तूप के ऊपरी भाग पर भी स्फटिक

(कलश) लगाया जाता है, पूर्व की परम्परा का पालन बना हुआ है। इस स्थान का पुराना नाम लिंगपुरा था। सात तल के इस पिरैमिड की ऊंचाई 36 मीटर थी। इसे सर्मर्पित करने की तिथि 12 दिसम्बर, सन् 921 थी। मेरे विचार से शिवलिंग की कुल ऊंचाई 6.0 मी. रही होगी, क्योंकि भूमि के नीचे 1.5 मी. गड्ढा अभीष्ट होगा।

हम्पी (कर्नाटक) का विरूपक्ष शिव मंदिर : यह मंदिर 1400 वर्ष प्राचीन है। मंदिर परिसर की एक दीवार पर दोपहर 2 बजे से 6 के बीच में मंदिर की उलटी छवि दिखती है, जो स्वर्णिम आभा की होती है। जांच करने पर पता चला–2 से 4 बजे के बीच मंदिर पर धूप स्वर्णिम-सी होती है। उलटी छवि बनने का कारण सामने की दीवार/द्वार में एक छिद्र है, मंदिर पर पड़ने वाली प्रकाश की किरण उस छिद्र से निकल कर दीवार पर यह छवि बनाती है। यह Pin Hole कैमरे के कार्य जैसा है। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में शिल्पकारों को विज्ञान एवं सूर्य की गति का ज्ञान था एवं उनकी गणना सटीक एवं सही होती थी।

अनुनाकी/अनुनागी : प्राचीन सभ्यताओं Sumerians, Akkadanians, Babylonians, Mayan में धारणा थी कि देवताओं का एक समूह उत्पत्ति इत्यादि कार्य में सक्षम था। सुमेर सभ्यता में अनुनाकी Enki एवं उनकी पत्नी ने कामगार बनाने का कार्य सम्पादित किया था। Enki का चिह्न एक डंडे पर गुथे हुए दो सर्प थे, जो चिह्न वर्तमान के चिकित्सक समाज का चिह्न है। एक अनुनाकी के पंख भी थे और उसके पास डंडे पर लिपटा सर्प था। डीएनए में बदलाव करना भी वे जानते थे। अनुनाकी से संबंधित अनेक प्राचीन शिल्प देखे जा सकते हैं। भारत के लीपाक्षी मंदिर (आ.प्र.) के एक स्तम्भ पर उकेरी आकृति का मुख सर्प जैसा एवं नीचे का शरीर मनुष्य जैसा है। कुछ व्यक्ति केसर से इसकी पूजा करते हैं। उन्होंने शोधकर्ता प्रवीन मोहन को बताया कि वह आकृति अनुनागी की है। अनु का अर्थ सरीखा अर्थात् नागी-नाग जैसा। मंदिर के कुछ स्तम्भों पर गुथे हुए दो सर्प बने हैं। गर्भगृह के बाहर पत्थर से बना एक अन्य शिल्प मिला था, जो कि यू.एफ.ओ. जैसा था, ऐसी आकृति 200 कि.मी. दूरी पर तमिलनाडु के एक शैलचित्र में देखी गई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि 'अनुनागी' एवं 'अनुनाकी' में समानता थी।

पेरू के प्राचीन रहस्यमय दरवाजे : हिन्दु मान्यता की तरह ही पेरू की इंका (INCA) सभ्यता (1428-1572 ई. पूर्व) भी मानती थी कि तीन प्रकार की दुनिया हैं– देवताओं की, हमारी पृथ्वी एवं पाताल। पूनो (Puno) से 35 कि.मी. दूर Hayu Marca पहाड़ी को काट कर एक द्वार बनाया गया था, जिसकी ऊंचाई 7 मी. एवं चौड़ाई 7 मी. थी चौखट के स्थान पर द्वार-परिधि के समानांतर एक खांचा (Groove) बना था। द्वार के निचले मध्य भाग में 2 मी. उंची एवं 1 मी. चौड़ी एक अन्य कटाई थी, जिसके बीच एक छोटा गड्ढा बना हुआ था, इसे 'Puerto de Hayu Marca' (अर्थ- Gate of Gods) अथवा अर्मु मुरु नाम से जाना जाता था। कथा के अनुसार स्पेन द्वारा आक्रमण के उपरांत पुजारी अर्मु मुरु अपने साथ एक स्वर्ण की तश्तरी लेकर यहां पहुंचा था और इस क्षेत्र के पुजारी के साथ मिलकर उसने धार्मिक अनुष्ठान किया एवं उस तश्तरी की सहायता से इस द्वार को खोलकर भीतर चला गया, उस समय नीले रंग का प्रकाश देखा गया था। फिर वह लौट कर नहीं आया था। वह तश्तरी 'The Key to the Gods of Seven Rays' कही जाती थी। पवित्र घाटी पार कर समुद्र तल से 900 मी. ऊंचाई पर नौपा हुका (Naupa Hucca) स्थित था, जहां बड़ी बलुआ चट्टानों के समीप ही नीली ग्रेनाइट चट्टानों का छोटा सा क्षेत्र भी था। एक चट्टान को तराश कर दीवार बनाई गई, जिसके दोनों ओर क्रमशः 51 अंश एवं 60 अंश का ढाल दिया गया था। इसके उपरान्त द्वार की चौखट तराशी गई थी, चौखट में आगे कुछ दूर तक कटाई की गई थी। इस प्रकार यह द्वार (False Door) बनाया गया था। इसे किसने और क्यों इस बीहड़ में बनाया, पता नहीं चल पाया। समीप ही नीचे ग्रेनाइट को तराश कर छोटा मंदिर/देवरा (बिना छत का) बनाने का तरीका भी विशिष्ट था। इसकी ऊंचाई एवं चौड़ाई निश्चित करने के उपरान्त, उसके दोनों ओर का पत्थर तराश कर निकाल दिया गया था। देवरे की वेदी (देवता का स्थान) के दोनों ओर इसी निकले पत्थर से दीवार निर्मित की गई, इसमें दो पायदान जैसी संरचना भी बनी थी।

किसने और क्यों बनाया पता नहीं। यह माना जाता है कि ये लोग नीली ग्रेनाइट पर (Radio Wave Receiver) का कार्य करने में सक्षम थे। यह संरचना सावधानी से बनी सटीक एवं त्रुटिहीन है। काट कर बनी सतह, सपाट एवं चिकनी है, जिसे छेनी एवं हथौड़े से नहीं बनाया जा सकता था। विशेषज्ञों का मानना है कि इसे उन्नत तकनीक से निर्मित किया गया था। संभव है ऐसी तकनीक का उपयोग इंका सभ्यता के पूर्व की किसी उन्नत सभ्यता द्वारा की गई होगी, जो कि किसी भयंकर प्राकृतिक आपदा के कारण समाप्त हो गई।

इंका सभ्यता के लोग अत्यंत कुशल थे, उन्होंने बड़े-बड़े पत्थरों से लम्बी दीवारें बनाई थी। इनमें किसी मसाले का उपयोग नहीं किया गया था। पत्थर एक दूसरे से लॉक्ड थे, पत्थरों में कटाव भी बनाये गये थे, जिनमें 12 कोने वाला पत्थर भी था।

संयुक्त-देह अवधारणा शिल्प

भारत में संयुक्त देह की अवधारणा मुख्यता धर्म आधारित हैं। इसके अनेक प्रकार के योग हैं। अन्य देशों में भी संयुक्त देह के शिल्प/चित्र उपलब्ध हुए हैं। हमारे यहां संयुक्त देह के कई तरह के शिल्प मिलते हैं– अर्द्धनारीश्वर (शिव एवं पार्वती देवी), हरिहर (विष्णु एवं शिव), सूर्य एवं नारायण (विष्णु)। मत्स्य अवतार (मुंह मानव का धड़ मत्स्य का), वराह अवतार- (मानव एवं वराह मुख), नृसिंह अवतार- (सिंह मुख एवं मानव शरीर), विनायक- (मानव देह व हाथी का मुख), हनुमान- (मानव देह एवं वानर मुख एवं पूंछ), देवी मुख एवं सिंह शरीर/देवी मुख एवं सर्प शरीर, किन्हीं शिल्पो में सर्प फण के भीतरी भाग में देवता/देवी बने होते हैं, विनायकी-देवी शरीर के ऊपर गज मुख, वराही-देवी शरीर के ऊपर वराह मुख, पक्षी शरीर एवं मानव मुख- (मान्यता है कि ऐसे पक्षी कल्पवृक्ष की रखवाली करते हैं)। गज मुख एवं सिंह शरीर- (ऐसे शिल्प द. भारत एवं कम्बोडिया में उपलब्ध हैं)।

मंदेशरा सूर्य मंदिर (उदयपुर)

नृसिंह की अहोबिलम (आं.प्र.) में चतुर्भुज एवं अष्टभुज मूर्तियां हैं। अष्टभुजा मूर्ति की जांघ पर हिरण्यकशिपु बना हुआ है। हनुमान ढोका, नेपाल में चतुर्भुज नीली मूर्ति है जिसकी जांघ पर हिरण्यकशिपु है।

ओसियां जैन मंदिर (राज.)

नागालैंड के एक मंदिर में शरीर मानव का है जो हाथ जोड़े हुए है, सिर पर मुकुट है, गले में आभूषण, पीछे पंचमुखी सर्पफण, पैर के स्थान से उठते हुए सर्प जो बाहों और वक्ष के बीच की जगह से निकल कर उठे हैं (इनके फण मूर्ति के मुख की ओर हैं)। अमरकंटक (म. प्र.) के महामेरु यंत्र मंदिर में चार देवियां बनी हैं, जिनके धड़ के नीचे का भाग सर्प का है, पीछे की ओर बड़े आकार के सर्प फण फैलाये हुए हैं।

जैन/शिव/सूर्य मंदिरों की परिक्क्रमा में : अनेक मंदिरों में संयुक्त पशु (पशु + पशु) शिल्प देखने में आते हैं। जैसे– प्राचीन नर्मदेश्वर मंदिर, उदयपुर। मंदेसरा सूर्य मंदिर उदयपुर के पास, ओसियां (राज.) का जैन मंदिर तथा चन्द्रावती, सिरोही (राज.) में किये गये उत्खनन में भी ऐसे शिल्प मिले हैं।

मिस्त्र में संयुक्त शिल्प एवं चित्र बहुतायत में हैं। चित्रों में शरीर पुरुष/स्त्री का है और मुख पशु का। हैथर देवी को गाय के रूप में चित्रित किया गया है। गीजा के पिरेमिड के पास बड़े आकार का प्रस्तर शिल्प है, जिसमें शरीर सिंह का है और मुख पुरुष का और एक अन्य शिल्प में मुख स्त्री का है। इनमें मुख किसी राजा/रानी

सैंटूर, वैटेकिन संग्राहालय, रोम (संयुक्त पशु-मानव)

का होता है। इस प्रकार के शिल्प किन्हीं-किन्हीं कब्रों के ऊपर भी बने हैं। एक अन्य शिल्प में मुख भेड़े का है और शेष भाग सिंह का।

एक चित्र/शिल्प में मानव मुख के साथ पक्षी शरीर है। यहां की मान्यता के अनुसार यह पक्षी 'बा' है जो मनुष्य की आत्मा को दर्शाता है एवं मरे हुए व्यक्ति की ममी के ऊपर मंडराता है। यह एक भारतीय मान्यता से मेल खाता है, जिसके अनुसार मृतक की आत्मा 12 दिनों तक उस स्थान पर रहती है जहां पर मृत्यु हुई है। दूसरे भारतीय मत के अनुसार मृत्यु के तुरन्त पश्चात जीवात्मा (अपने कर्मानुसार) उपयुक्त गर्भाशय में पहुंच जाती है।

टुनीसिया के एक चित्र में एक देवी या रानी के दोनों ओर दो घोड़े हैं जिनके धड़ स्त्री के हैं, इन स्त्रियों ने एक हाथ से बंदनवार के सिरे पकड़े हुए हैं और दूसरे हाथ में कलात्मक टोपीनुमा छत्र है जो देवी/रानी के सिर के ऊपर दर्शाया है।

फ्रांस के एक शिल्प सायरन (Siren sphinex) में मुख स्त्री का है, धड़ सिंह का। डोरडोगोन गुफा के चित्र-अंकन में आधा मनुष्य एवं आधा पशु है। यह मानव सभ्यता के Paleohithic युग का है।

रोम के वैटिकन संग्रहालय में सैण्टोर नामक संगमरमर के बड़े शिल्प में घोड़े का शरीर एवं मनुष्य का धड़ है, उसके हाथ में उसका शिकार है।

सुमात्रा द्वीप के एक चित्र में बराक (Baraq) बना है, जिसका मुख मनुष्य का और शरीर घोड़े का है और पंख भी हैं। इस्लामिक देशों में मान्यता है कि यह पैगम्बर मुहम्मद को स्वर्ग से लाने का वाहन है। उसने पैरों में आभूषण एवं जूतियां पहनी हैं, सिर पर मुकुट है, पीठ पर बैठने हेतु सुसज्जित काठी जैसी वस्तु है। ऊपर दोनों तरफ पक्षी है, अन्य वस्तुएं भी देखी जा सकती हैं।

बेबीलोनियन सभ्यता एवं चीन में भी संयुक्क्त पशु की मान्यता थी। **इजरायल** के पुरा-क्षेत्र जिप्पोरी से मिले चित्र में घोड़े पर धड़ मनुष्य का है जो कोई वस्तु उठाए हुए है। मिस्र की एवं भारत की कुछ मूर्तियों का आधार कुछ विशेषज्ञों के अनुसार Genetic परिवर्तन था, जिसके जनक अन्य ग्रहों से आये ऐलियंस (Aliens) थे। क्योंकि इतने बड़े पिरामिड बनाना सामान्य पुरुषों के सामर्थ्य से बाहर था। संयुक्त मूर्तियों का कारण या औचित्य कहना सरल नहीं है। मंदिरों में बनाये ऐसे शिल्प सम्भवतः पाशविक असुर का चित्रण करते हों।

सुमात्रा द्वीप, मिथिकल बुराक (संयुक्त पशु-मानव)

बहुआयामी सूर्य

भारत के सूर्य मंदिर– सूर्य के अनेक मंदिर हैं, जिनमें से कोणार्क मंदिर विश्व विख्यात है। प्राचीन समय में सभी सभ्यताओं ने सूर्य को देवता मानते हुए उसका अपनी तरह से चित्रण/अंकन किया। डेनमार्क में 1200 वर्ष ई.पू. के चित्र में एक घोड़े से खींचा जाने वाला सूर्य-रथ बना है। माया सभ्यता में सूर्य के ऊपर एक देवता दिखाया गया है जिसके हाथ सूर्य के दोनों तरफ हैं, नीचे एक व्यक्ति ऊपर की ओर देख रहा है। संभव है यह सूर्य ग्रहण का चित्रण हो। पत्थर की एक विशाल आकृति

1200 ईसापूर्व का सूर्य रथ(डेनमार्क)

को रात्रि सूर्य की संज्ञा दी गई है, जिह्वा मुंह से बाहर निकली हुई है। एजटेक सभ्यता का एक पत्थर-शिल्प सन 1790 में मिला जो 24 टन का है। इस सूर्य शिल्प के बीच में मुंह और अनेक चिह्न/पैटर्न बने हैं, जिव्हा बाहर निकली हुई है। इंका सभ्यता के एक सूर्य-शिल्प में कई वृत्त बने हैं। बीच वाले वृत्त में मुख बना है, सिर के ऊपर एक किरण और बाकी जगह में कुछ चिह्न हैं, इसके बाहर के वृत्तों के बीच में भी अनेक चिह्न अंकित हैं। मिस्र सभ्यता में अनेक स्थानों पर सूर्य का चित्रण/अंकन किया गया था। सुमेरियन सभ्यता के एक शिल्प में सूर्य देवता, सूर्य चिह्न एवं अन्य पुरुष दिखाये गये हैं। सूर्य चिह्न के वृत्त के बीच में 2 छोटे वृत्त हैं और इनके बाद 4 किरण हैं और दो स्थान पर 3 लहरिया लाइनें बनी हुई हैं। इंडोनेशिया की मजापहित सभ्यता में सूर्य चिह्न में तीन वृत्त हैं, जिन्हें मोटाई भी दी गई है। पहले और दूसरे वृत्त के बीच 8 किरण बनी हैं, दूसरे वृत्त के बाद फिर से 8 किरण बनीं हैं। इंका सभ्यता के एक शिल्प में सूर्य का मानव मुख है, कान में दो बड़े टाप्स और सिर पर डिजाइन वाला मुकुट पहने दिखाया है। एक यहूदी मुहर में दो विपरीत त्रिभुजों के बीच की जगह में वृत्त बना कर सूर्य का चित्रण किया गया है। बैबीलोनियन सभ्यता के एक शिल्प में एक व्यक्ति ऊंचे सिंहासन पर बैठा है, हाथ आशीष मुद्रा में है। दो अन्य व्यक्ति सामने खड़े हैं। ऊपर क्रमशः तारा, अर्ध चन्द्र और सूर्य बने हैं। रोमन- सीरियन सूर्य देवता को मनुष्य रूप में दिखाया गया है, सिर के पीछे सूर्य किरणों की आभा है।

सूर्य वेधशाला : प्राचीन इंका सभ्यता में सूर्य की छाया से अनेक गणनाएं की जाती थीं। पेरू (मैक्सिको) में पहाड़ी काटकर बड़े आकार का सूर्य-डायल बनाया गया था।

रोमन-सीरियन सूर्य देवता

मूर्ति शिल्प– राष्ट्रीय संग्रहालय (दिल्ली) में एक आकर्षक मूर्ति है, मुख पर मुस्कान है। एक बहुबाहू त्रिभंग मूर्ति के हाथों में अनेक आयुध हैं, सिर पर किरीट मुकुट और उसके पीछे सूर्य प्रभा अंकित है, दो स्त्रियां हाथ जोड़े बैठी हैं। कई अन्य पुरुष और स्त्रियां भी हैं। कोणार्क की एक कृति में सूर्य अश्व पर बैठे दिखाये गये हैं। झालावाड़ संग्रहालय में 10वीं सदी की एक संयुक्त सूर्य-नारायण मूर्ति है, चार हाथों में विष्णु के चक्र, पद्म शंख एवं गदा है, दो हाथों में डंठल सहित कमल हैं और सिर पर किरीट मुकुट, जिसके पीछे सप्तफणी नागफण बना है। 15वीं सदी के रमानाथ मंदिर (जावर, राज.) के परिसर में सूर्य मंदिर में सूर्य, अश्वों द्वारा खींचे जा रहे रथ पर आरूढ़ हैं और वे लगाम पकड़े हैं। 17वीं सदी के जगदीश मंदिर (उदयपुर) के परिसर में स्थित सूर्य मूर्ति स्थानक है और इसके दोनों ओर अश्व बने हैं। 11-12वीं सदी के मंदेसर मंदिर (दारोली, उदयपुर) के गर्भ गृह से मूर्ति चोरी हो गई थी, मंदिर की बाहरी परिक्रमा

त्रिभंगा सूर्य

में रथ पर आरूढ़ सूर्य मूर्ति बनी है, 7 अश्व रथ चला रहें हैं। मोढ़ेरा (गुजरात) मंदिर में भी सूर्य मूर्ति नहीं है, बाहरी परिक्रमा में मूर्ति है किन्तु स्थानक।

पावापुरी (बिहार) की मूर्ति में उठे हुए हाथों में डंठल सहित कमल हैं, सिर पर किरीट मुकुट, पैरों में कड़े, कमर से तलवार लटकी हुई है, पैरों के पास दो आकृतियां

मंदेसरा (उदयपुर) मंदिर की बाहरी परिकर्मा में सूर्य शिल्प

हैं (संभवतः पत्नियां)। बॉसवाड़ा के स्थानक सूर्य के पैरों के पास 5 छोटी-छोटी मूर्तियां हैं, दोनों तरफ पांच-पांच आलियों में छोटी-छोटी मूर्तियां हैं (उनके संबंध में स्पष्टता नहीं है)। अरसीवल्ली, सिरकाकुलम (आ. प्र.) के मंदिर में सूर्य मूर्ति पर सूर्य की रश्मि कुछ समय के लिए फरवरी एवं जून में पड़ती है, दो देवियां बनीं हैं, अश्व चांदी से बने हैं। नर्मदेश्वर शिव मंदिर (उदयपुर) की बाहरी परिक्रमा में चतुर्भुज स्थानक सूर्य मूर्ति बनी है, पैरों के पीछे अश्व बने हैं, विशेषता यह है कि सभी समानांतर एवं एक ही पत्थर से बने हैं।

मोड़ी (दारोली के आगे, उदयपुर) का मंदिर प्राचीन नहीं है। मंदिर एवं अन्य देवताओं के मंदिर एक ही बड़े कमरे में हैं। सूर्य मूर्ति स्थानक है, साथ में पत्नी भी है, रथ 7 अश्व खींच रहे हैं। तपोगच्छ जैन मंदिर (उदयपुर) परिसर में भी एक छोटी सी सूर्य मूर्ति है। झालारापाटन के सूर्य मंदिर में गर्भ गृह में कोई मूर्ति नहीं है, कहा जाता है कि इसमें सूर्य की प्रथम किरण पड़ती है। झालरापाटन से कुछ दूरी पर स्थित चंद्रमौलीश्वर शिव मंदिर के एक आलिये में सूर्यमूर्ति है। देहली गेट, उदयपुर के शनि मंदिर परिसर में एक छोटा सा सूर्य मंदिर है, इसमें सूर्य प्रभा के भीतर सूर्य मुख बनाया गया है और नीचे अश्व बने हैं।

अन्य : दमिस्क (सीरिया) के संग्रहालय में रखे एक पत्थर पर उकेरी कृति में तीन देवता (मनुष्य रूप) बने हैं, इनके मुख के पीछे किरणों द्वारा सूर्य प्रभा दिखाई गई है, एक देवता के ऊपर अर्धचंद्र बना है। माया सभ्यता की एक पटिया में सूर्य मुख बना है (जीभ बाहर निकली), दो ओर व्यक्ति अर्चना करते दिखाये गये हैं और बहुत से चिह्न भी उकेरे हुए हैं। बुलगेरिया की तीसरी सदी की

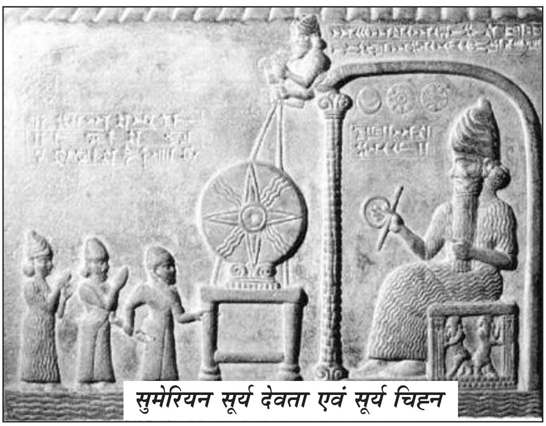
सुमेरियन सूर्य देवता एवं सूर्य चिह्न

एक कलात्मक स्वर्ण कृति में तार के वृत्त में एक व्यक्ति दो पहिये वाले रथ पर खड़ा है, जिसे दो अश्व खींच रहे हैं, इनकी रास (लगाम) भी सोने के तार की है। उस व्यक्ति के दो पंख भी हैं। सूर्य-चित्रण प्रतीत होता है।

देव (औरंगाबाद, बिहार) में 30 मीटर ऊंचा सूर्य मंदिर है। मंदिर में सूर्य के तीन रूपों की मूर्तियां स्थापित

देव सूर्य मंदिर, औरंगाबाद (बिहार)

हैं– उदयाचल, मध्याचल, अस्ताचल। यह मंदिर 15वीं सदी का है, किन्तु स्थानीय लोग इसे त्रेता युग का बताते हैं। आश्चर्य है मंदिर पूर्वमुखी न होकर पश्चिम मुखी है, जिसके लिये पुजारियों ने रात भर प्रार्थना की थी, इसलिए कि बादशाह औरंगजेब ने इस मंदिर को ध्वस्त न करने के लिए यह शर्त रखी थी और यह पूर्वमुखी से पश्चिममुखी हो गया। मंदिर से थोड़ी दूर एक कुण्ड/तालाब है, जिसका जल चर्म रोगों से मूक्ति देने वाला बताया जाता है।

कोरिकन्चा स्वर्ण सूर्य मंदिर

कोरिकन्चा (Coricancha) मंदिर पेरू (द. अमरीका) के क्यूस्को CUSCO में स्थित था। इस शहर की संरचना प्यूमा (PUMA) पशु के आकार सरीखी थी एवं क्यूस्को उसकी पूंछ पर स्थित था। पेरू इंका (INCA) सभ्यता का केंद्र था, उस समय के लोग सूर्य एवं अन्य देवताओं के उपासक थे। पिच्छू माछी (Picchu-Machi) में भी प्राचीन सूर्य मंदिर के भग्नावशेष देखे जा सकते हैं। वहां के लोगों को Quechua नाम से जाना जाता था, वे खगोल विद्या में अत्यंत प्रवीण थे, उन्होंने अनेक मंदिरों एवं वेधशालाओं का निर्माण, ग्रहों एवं नक्षत्रों की

कोरिकन्चा स्वर्ण सूर्य मंदिर

गतिविधि के आधार पर किया था। सूर्य देवता को inti कहते थे। Huaca से तात्पर्य था, वह पवित्र स्थान जहां सूर्य देवता को सम्मान देने हेतु मंदिर बना हो।

माना जाता है कि यह मंदिर 12वीं सदी में बनाया गया था। मकर संक्रांति से उनका नव वर्ष प्रारम्भ होता था, उस दिन मंदिर में सुनहरी धूप खिड़कियों के मार्ग से एकत्रित होती थी। उनकी मान्यता के अनुसार अदृश्य अतिउत्तम दैविक रेखायें पृथ्वी की पवित्र शक्तियों को जोड़ती थीं, एवं Coricancha उनका केंद्र था। Quechua प्रकृति एवं प्राकृतिक शक्तियों को शक्तिशाली देव मानते थे।

इस मंदिर की विशेषता थी- 1. बड़े-बड़े पत्थरों से बिना मसाले के जोड़ से बना था, पत्थर एक दूसरे से लाक किये गये थे। सबसे बड़े आकार के पत्थर का भार 65 टन था। 2. मंदिर की दीवारों को 3-5 अंश का ढाल दिया गया था। इस प्रकार की संरचना के कारण यह भूकम्प रोधी था, भूकम्प से इसे कोई क्षति नहीं पहुंची थी।

शासक सपाइन्का (Spainca) ने मंदिर को 700 स्वर्ण पतरे दिये थे, प्रत्येक पर एक देवता उकेरा गया था– जैसे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, कड़कती/दमकती बिजली इत्यादि। इन्हें मंदिर की दीवारों पर सजाया गया था। मंदिर के भीतर एक स्वर्ण थाली थी, जो कि सूर्य का चिह्न था। मंदिर के उद्यान में रजत एवं स्वर्ण से बने भेड़ (Alpacas), भुट्टा (Corn) इत्यादि लगाये गये थे। सन् 1541 में स्पेन राज्य की सेना ने क्यूसको (Cusco) पर आक्रमण कर मंदिर को लूट लिया था, उसके उपरान्त इसे सान्टो डोमिन्गो नामक चर्च बना दिया गया था।

एक शोधकर्ता का विचार है कि इस मंदिर का निर्माण इन्का से पूर्व की किसी उन्नत सभ्यता/ ऐलियंस

द्वारा किया गया था, जो कि कालान्तर में लुप्त हो गई थी। उसने प्राचीन Ollateytamboo पत्थर की खान देखने के उपरान्त यह विचार व्यक्त किया था, जहां से निकाले गये पत्थरों से इसका निर्माण हुआ था। पत्थर सपाट एवं बड़े आकार के थे, खान मंदिर से बहुत दूर थी। बड़े पत्थर खान से किस प्रकार काटकर निकाले गये एवं मंदिर तक कैसे पहुंचाये गये, यह स्पष्ट नहीं एवं कौतुहल का विषय है।

पेरू में मिली विचित्र खोपड़ियां

पूर्वी तट स्थित Paracas में मानव खोपड़ियां 2000 से 3000 वर्ष प्राचीन हैं, बड़े आकार के सिर वाली (दो दांत बाहर निकले हुए) एवं एक तीन अंगुलियों वाली ममी

प्राचीन मिस्र की नक्कासी (विचित्र खोपड़ियां)

भी मिली थी। अनेक खोपड़ियां तिरछी एवं लम्बी थीं। एक व्यक्तिगत संग्रहालय में 1000 खोपड़ियां संग्रहित हैं। तिरछी एवं लम्बी खोपड़ी के निम्न कारण थे- 1. जानबूझकर कम आयु के बच्चों के माथे पर लकड़ी का पट्टा कस कर बांधने से, जिस कारण से निशान भी बन जाता था। राजघरानों में यह प्रथा प्रचलित थी। मिस्र के राज परिवार एवं अफ्रीका की आदिम जाति के कुछ समुदाय इस पद्धति का उपयोग करते थे। ऐसा माना जाता था कि इस प्रकार के सिर के कारण सुन्दरता में वृद्धि होती थी एवं मस्तिष्क चुस्त-दुरुस्त रहता था। 2. प्राकृतिक विकृति के कारण भी खोपड़ी लम्बी हो सकती हैं।

कुछ खोपड़ियों में माथे के ऊपर छेद देखा गया एवं कुछ पर सिलाई के निशान मिले थे, जिनके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि उस काल में भी मस्तिष्क की शल्य चिकित्सा की जाती थी। कुछ खोपड़ियों के पिछले भाग में दो छिद्र थे, जिन्हें स्वाभाविक बताया गया, रक्त संचार हेतु।

इस संदर्भ में अन्य देशों से उपलब्ध जानकारी इस प्रकार है– Congo में एक बंधुआ मजदूर लड़की की लम्बी खोपड़ी मिली थी, जिसका काल ई.पू. 1900-1915 था। मिस्र में मिली लम्बी खोपड़ी ईसापूर्व 1351-1334 की थी। यह खोपड़ी Pharaoh Artenaten (राजा) परिवार के बच्चे की थी। मिस्र की एक प्राचीन नक्काशी ध्यानाकर्षण योग्य है। इसमें- राजपरिवार के पति-पत्नी आमने-सामने बैठे हैं। उनके मुकुट पर सर्प बना था। पुरुष एवं स्त्री की गोद में एक-एक बच्चा था, स्त्री के कंधे पर एक शिशु बैठा हुआ था। पति, पत्नी एवं तीनों बच्चों का सिर लम्बा था। इन बच्चों की टांगें एवं हाथ असामान्य रूप से लम्बे थे। क्षितिज में एक गोला बना था, जिसके भीतर भी अन्य वस्तु थी। गोले के बाहर किरणें निकलती हुई दिखाई गई थी, जिनके दूसरे छोर पर पुष्प की लम्बी पत्ती का आकार बना था, किन्तु जिस भाग की किरणें दोनों व्यक्तियों के मुंह के पास पहुंच रही थी, उनके छोर पर चाबी बनी थी, जो कि राजाशाही एवं आध्यात्मिक चिह्न था।

उपरोक्त विषय पर, विद्वानों की एक संगोष्ठी में एक वक्ता ने एक छोटे बच्चे की खोपड़ी दिखाई और बताया खोपड़ी लम्बी होने के साथ ही उसके बाल भूरे थे, जबकि उस स्थान पर रहने वाले लोगों के बाल इस रंग के नहीं होते थे। उनका निष्कर्ष था कि उस बच्चे के माता-पिता सामान्य मनुष्य नहीं हो सकते थे। डीएनए के आधार पर विशेष जांच अमेरिका की एक जांच प्रयोगशाला में करवाने की व्यवस्था की गई थी।

ईस्टर द्वीप (Easter Island)– में मिली प्राचीन विशालकाय प्रस्तर मूर्तियों (जिनका निचला भाग पृथ्वी में दबा था) में भी व्यक्तियों का सिर लम्बा दिखाया गया था। शोधकर्ताओं का मत है कि कुछ लम्बी खोपड़ियां ऐलियंस की थीं।

रोचक मूर्तियां एवं शिल्प

1. शोभा विनायक, उदयपुर : मंदिर के गर्भगृह के बाहर उनके वाहन मूषक की मूर्ति स्तम्भ पर स्थापित है। एक ही प्रस्तर खंड से निर्मित विनायक मूर्ति अष्टबाहू

शोभा विनायक, उदयपुर (राजस्थान)

है, भुजाओं में आयुध हैं, सूंड मुड़ी हुई है और उसमें कलश पात्र है, कमल पीठ पर बैठे हैं, पीछे मसनद हैं, अनेक आभूषण पहने हैं, बांयी जांघ पर पत्नी बैठी है जिनके जुड़े हाथों के बीच में कमल पुष्प है। इतनी वस्तुएं एक ही मूर्ति में उकेरना शिल्पकार की दक्षता का द्योतक है। मूर्ति के पास ही पार्वती की चतुर्भुज मूर्ति है, जिसके सामने एक छोटा शिवलिंग रखा है।

2. ऋषभदेव (उदयपुर) के केसरियाजी (आदिनाथ) की मूर्ति स्वतः पागलिया जी में प्रकट हुई थी, ऐसी कथा है। मंदिर एवं इसकी नक्काशी अत्यंत सुन्दर है, दरवाजे की चौखट पर शिव, पार्वती, सरस्वती के एवं अन्य शिल्प हैं। मंदिर की बाहरी परिक्रमा में नृत्य गणपति एवं वाद्ययंत्र बजाते पुरुष/स्त्री बने हैं। परिसर के एक बरामदे में मार्बल में उकेरे सुन्दर शिल्प हैं– बीच में गणपति ऋद्धि-सिद्धि के साथ हैं; एक तरफ राम-सीता हैं; दूसरी तरफ राधा-कृष्ण हैं।

3. सिद्धि विनायक, खजराना (इंदौर) : यह विराट अनगढ़ मूर्ति 350 वर्ष पुरानी है। रानी अहिल्या बाई होल्कर के समय में रियासत की ओर से प्रतिवर्ष स्वर्ण निर्मित दूर्वा मूर्ति को भेंट की जाती थी। मन्नत मांगने वाले भक्त मकर संक्रांति के उपरांत मंदिर की बाहरी दीवार पर गोबर से उल्टा स्वस्तिक बनाते हैं, मन्नत पूरी होने पर यहां आकर सही प्रकार से इसे रोली से बनाते हैं।

4. तेवर, जबलपुर में 1200 वर्ष पुरानी त्रिमुखी त्रिपुर-सुन्दरी मूर्ति है। इसमें महाकाली, महासरस्वती एवं

त्रिपुरसुंदरी (तेवर, जबलपुर, एम.पी.)

महालक्ष्मी के मुख हैं। इस स्थान के आसपास के क्षेत्र में 4000 वर्ष तक प्राचीन वस्तुएं मिली हैं। इसी प्रकार की मूर्ति कोप्पल, कर्नाटक में भी है।

5. अष्टगज-लक्ष्मी, बूंदी : 19वीं सदी की यह विशिष्ट सुन्दर मूर्ति है। देवी कमल पीठ पर बैठी हैं, सामने कमल के भीतरी वृत्त में श्रीचक्र बना है। नीचे दोनों ओर दो हाथी हैं, जो अपने ऊपर वाले दो हाथियों को पानी भरे कलश सूंड से देते हैं, ये दोनों अपने

अष्ट गजलक्ष्मी, बूंदी (राजस्थान)

ऊपर के चार हाथियों को कलश पहुंचाते हैं जो देवी का जल-अभिषेक करते हैं। देवी अपनी चोटी दोनों हाथों से पकड़े हुए हैं, बाईं ओर एक राजहंस उससे गिरने वाली बूंदों को मोती की तरह चुग रहा है।

6. हरसिद्धि माता : इनका मंदिर द्वारका से मूल द्वारका जाने के रास्ते में समुद्र किनारे एक छोटी पहाड़ी पर स्थित है। कथानुसार देवी की उग्र दृष्टि के कारण अनेक जहाज दुर्घटना ग्रस्त हो जाते थे। एक व्यापारी ने प्रार्थना के उपरांत देवी का आदेश प्राप्त किया, जिसके अनुसार देवी को नीचे उतारना था और उतारते समय प्रत्येक सीढ़ी पर एक बली देनी थी। देवी को उतारते समय दो सीढ़ियों के लिए बलि-पशु नहीं बचे, व्यापारी ने अपने पुत्र एवं अपनी बलि देकर इस कार्य को पूरा किया। इससे देवी नीचे बनाए गए नए मंदिर में उतर आई। देवी-मूर्ति के पास में ही उसके पुत्र और उसकी छोटी मूर्तियां हैं। पुराना मंदिर अभी भी देखा जा सकता है। उज्जैन के एक भक्त की प्रार्थना पर देवी उज्जैन में रात्रि निवास करती हैं, इसलिए वहां पर भी देवी का मंदिर है।

7. महालक्ष्मी : कोल्हापुर (महाराष्ट्र) में स्थित यह मूर्ति प्राचीन है और इन्हें बहुत से बहुविध आभूषण अर्पित किये जाते हैं जिनमें भारत एवं अन्य देशों के प्राचीन सिक्के भी हैं। कथानुसार तिरुपति में विष्णु से कुपित होकर वे यहां आई और यहीं रह गईं। प्रत्येक वर्ष तिरुपति बालाजी मंदिर से इनके लिये एक शाल उपहार स्वरूप भेजी जाती है।

8. चिदंबरम में एक बहुभुजी स्थानक देवीमूर्ति है, भुजाओं में आयुध हैं, मूर्ति को कपड़े धारण करवाये जाते हैं, पास में भैंसा स्वरूप में महिषासुर खड़ा है, जिसके ऊपर देवी का एक पैर है।

9. तमिलनाडु के थिरुमैचूर मंदिर में दुर्गा के ऊपर एक तोता बना है।

10. करनाली, चांदोद (गुजरात) में सिंह पर आरूढ़ काली हैं जो एक विशेषता है, सामान्यतः काली सिंह पर नहीं होती हैं। श्री अरविन्दु जब वहां गये थे तो उन्होंने मूर्ति के तेज का अनुभव किया था।

11. उत्तराखंड में धारी देवी की मूर्ति है, जिनके आगे एक खुकरी रखी है। इस प्राचीन मूर्ति के डूब क्षेत्र में पड़ने के कारण इसे वर्तमान जगह स्थानांतरित किया गया है।

12. सीतामाता आरक्षित वन (कोटा, राजस्थान) में सीता-कुंड पर सीता माता की एक छोटी मूर्ति है, कथा है कि वे इस क्षेत्र में आई थी। प्रतिवर्ष यहां मेला लगता है।

13. तनोट राय माताजी की 1000 वर्ष पुरानी मूर्ति जैसलमेर पाकिस्तान सीमा पर है, बहुत मान्यता है। पाक-भारत युद्ध के समय इस मंदिर में अनेक सैनिकों ने शरण ली थी, इस क्षेत्र पर बम गिरे, किन्तु फटे नहीं।

डाकोर (गुजरात) : कथानुसार कृष्ण द्वारा कंस-वध के पश्चात कंस के श्वसुर मगध-नरेश जरासंध ने मथुरा पर आक्रमण किए। इसी क्रम में कालयवन से कृष्ण का रण हुआ। अंततः कृष्ण रण छोड़ कर मथुरावासियों सहित गुजरात को पलायन कर गए और वहां रणछोड़जी नाम से पूज्य हुए। डाकोर में रणछोड़जी नाम से मंदिर है जिसमें चतुर्भुज विष्णु-मूर्ति है। कहा जाता है कि द्वारका मंदिर की मूल द्वारकाधीश मूर्ति यही है। कथानुसार डाकोर का एक भक्त अपनी पत्नी के साथ प्रति वर्ष दर्शन हेतु द्वारका जाता था। जब वह बहुत बूढ़ा हो गया तो उसने द्वारकाधीश से कहा कि अब भविष्य में वह द्वारका नहीं आ सकेगा, तब उन्होंने उसके साथ जाने की इच्छा जताई। पंडों को जानकारी होने पर विरोध हुआ, अंत में उन्होंने यह शर्त रखी कि मूर्ति के वजन के बराबर स्वर्ण दो। देव ने प्रेरणा दी कि भक्त अपनी पत्नी की नथ तुला के पलड़े में रख दे, मूर्ति उसके बराबर भार की हो गई। तब बैलगाड़ी में रखकर मूर्ति को डाकोर ले जाया गया, वहां पहुंचने से पहले पंडों ने आक्रमण किया मूर्ति को भाले जैसी चीज लगने से घाव हो गया। मूर्ति काफी समय तक भक्त के घर पर ही रखी रही। मंदिर काफी वर्षों बाद बना।

अष्टभुजी कृष्ण : हम्पी (कर्ना.) में काले पत्थर की श्रीकृष्ण की अष्टभुजा मूर्ति है। ऐसी एक मूर्ति राजस्थान में मेड़ता सिटी के मीरा मंदिर में भी है। एक अन्य ऐसी मूर्ति फतेहपुर (उ.प्र.) के पास स्थित बताई जाती है। हम्पी में ही काले पत्थर पर चतुर्भुज कृष्ण उकेरे गये हैं, हाथ में वंशी है, दोनों ओर वृक्ष एवं गाय

अष्टबाहु कृष्ण, हम्पी कर्नाटक

हैं, पीछे एक बहुफणी नाग है, हम्पी में पम्पा नदी तट पर एक विशाल काली शिला खण्ड पर सुन्दर राम-सीता, लक्ष्मण और हनुमान उकेरे हुए हैं, राम के एक हाथ में धनुष और दूसरे में तीर है।

चेन्नाकेशव : बेलूर (कर्ना.) के चेन्नाकेशव मंदिर

गोवर्धनधारी कृष्ण, बेलूर, कर्नाटक

की एक सुन्दर बारीक नक्काशी में गरुड़ पर आसीन विष्णु एवं दो बड़े मगरमच्छ बनाये गये हैं। एक शिल्प में कृष्ण गोवर्धन पर्वत उठाये दिखाये गये हैं, मुकुट एवं अनेक आभूषण पहने हैं, पर्वत के नीचे बहुत सी गायें और मनुष्य हैं।

संयुक्त मूर्तियां : हरिहर (द.भा.) में विष्णु एवं शिव की संयुक्त हरिहर मूर्ति है। चेन्नाकेशव मंदिर, सोमनाथ पुरा के शिल्प में मत्स्य अवतार बनाया गया है, मुख मछली का है। कई दूसरे शिल्पों में मुख मानव का और नीचे का भाग मछली का होता है। वराह-लक्ष्मी मूर्ति में वराह मूर्ति में मुख वराह का और धड़ मनुष्य का है। वराह एक पैर पर खड़े हैं, दूसरे उठे पैर की जाँघ और घुटने के बीच का हिस्सा लेवल है जिस पर लक्ष्मी बैठी है। दोनों के कपड़े बड़ी सुन्दरता से उकेरे गये हैं। अन्य एक मूर्ति में लक्ष्मी वराह की जांघ पर खड़ी हैं।

हनुमान : 1. माया सभ्यता की एक हनुमान मूर्ति मिली है, हाथ में छोटे माप का मुगदर पकड़े हैं। 2. उदयपुर के दातार हनुमान मंदिर में एक ही प्रस्तर खण्ड के दोनों ओर मूर्ति उकेरी हुई है। 3. रायबरेली में अभय हनुमान की काले रंग की मूर्ति है, कहते हैं ये चोरी से बचाव करते हैं। 4. मेड़ता सिटी में विष्णु सागर के पास जोधपुर के राजा मालदेव द्वारा स्थापित हनुमान मूर्ति है जो धनुषधारी है। 5. लेटे हुए हनुमान की मूर्तियां जम्सवली (म.प्र.) एवं महाराष्ट्र के औरंगाबाद और बुलढ़ाना में हैं। एक टी. वी. चैनल के एक प्रोग्राम के अनुसार म. प्रदेश में एक ऐसी मूर्ति है जो आकार में बढ़ जाती है। 6. चक्र तीर्थ, नैमिषारण्य (उ.प्र.) में एक हनुमान मूर्ति के कंधों पर राम और लक्ष्मण बैठे हुए हैं। 7. पंचमुखी हनुमान मूर्तियां चित्रकूट एवं ओंकारेश्वर (म.प्र.) में हैं। 8. अंबाजी (गुजरात) के पास कोटेश्वर महादेव मंदिर द्वार के पास पंचमुखी उग्र हनुमान मूर्ति है (प्रचीन नहीं है)। कथानुसार उन्होंने एक अत्यंत पराक्रमी योद्धा से युद्ध हेतु यह स्वरूप लिया था। 9. दिल्ली के कनाट प्लेस के हनुमान मंदिर का निर्माण एक मुगल शासक ने करवाया था, स्वप्न के आधार पर मूर्ति खुदाई करने पर मिली थी। मंदिर के शिखर कलश पर चाँद एवं सितारा का चिह्न लगा है। 10. लखनऊ की एक बेगम की मन्नत पूरी होने पर उसने एक मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था, इसलिए जो 'बेगम के हनुमान' नाम से प्रसिद्ध हैं।

11. हम्पी (कर्ना.) के एक यंत्र में दो विपरीत त्रिभुजों के बीच में हनुमान बने हैं, इसे हनुमतो यंत्र से जाना जाता है।

शिव : 1. ताला, बिलासपुर (छ.ग.) में छठी सदी की एक विचित्र, 1.8 मीटर ऊंची शिव मूर्ति मिली है। इसमें अनेक जीवों के शिल्पों का समावेश है। शिव-मुख के अतिरिक्त भी अन्य नौ मुख बने हैं। घुटनों पर सिंह मुख हैं, जांघ के बगल में दो मुख हैं, सिर कछुए का सा है जिस पर सांप कुंडली मार कर बैठे हैं, कान के पास मोर बने हैं, कमर में सर्प है, आंखें मेढक से बनी हैं, केकड़े की दाढ़ी है, लिंग कछुए की गर्दन से बना है, नाक छिपकली से बनी है जिसके नीचे दो छोटी मछलियों की मूछ है, अंगुलियां भी सर्प-फण जैसी हैं, पैर हाथी जैसे हैं। एक मत है कि शिल्पी आदिवासी रहा होगा और मूर्ति तंत्र-साधना से संबंधित है। तात्विक दृष्टि से देखें तो शिल्पी कह रहा है– सारी सृष्टि को शिव ने धारण किया हुआ है। 2. एक पैर एवं एक मुख की शिव की मूर्ति है, लोग इसकी पूजा भी करते हैं। एक अन्य मूर्ति में एक- पदा शिव के धड़ से निकलती हुई दो अन्य मूर्तियां हैं, इसे त्रिदेव की संज्ञा दी गई है। 3. डूंगरपुर (राज.) संग्रहालय में छठी सदी की चतुर्भुज वीणाधर शिव मूर्ति है जिसके हाथ में वीणा है। 4. अंगकोरवाट (कम्बोडिया) के एक मंदिर के शिल्प में शिव पेड़ के नीचे बैठे हैं, पार्वती भी समीप हैं, कामदेव अपना वाण धनुष से चला रहा है। नीचे की ओर दो पंक्तियों में मनुष्य-शरीर एवं पशु-मुख वाले बैठे हैं, नीचे एक अन्य पंक्ति में कुछ मनुष्य एवं पशु बने हैं। बारीकी से बना शिल्प है। 6. अर्धनारीश्वर शिव की 11वीं सदी की मूर्ति द. भारत में है। 7. एक पंचमुखी शिवलिंग कमल पीठ पर बना है, मूर्ति के नीचे चौकोर आसन है, इसके नीचे वृत्ताकार आधार है। सामान्यतया ऐसे लिंग में चार मुख दिखाये जाते हैं, किन्तु इसमें पैर से सिर तक मूर्तियां बनी हैं और लिंग भी बड़े माप का है।

विचित्र शिव, विलासपुर (छ.ग.)

जैन/बुद्ध मूर्ति : 1. मध्य प्रदेश-महाराष्ट्र की सीमा पर अंतरिक्ष पार्श्वनाथ तीर्थंकर मूर्ति है, जो वायु में बिना अवलम्बन के स्थिर है, कहा जाता है कि मूर्ति पहले काफी उठी हुई थी, वर्तमान में इसके नीचे से कागज निकाला जा सकता है। 2. 5-6वीं सदी की तांबे की 500 किलो की बुद्ध मूर्ति, बिहार के सुल्तानगंज से 1861 ई. में खुदाई के समय मिली थी। मूर्ति को चोगे जैसा वस्त्र पहना हुआ दर्शाया गया है। 1. तेजपुर (असम) के चित्रलेखा पार्क में बहुत बड़े आकार के प्राचीन प्रस्तर शिल्प रखे गये हैं। कथानुसार चित्रलेखा दैत्य-पुत्री थी और उसने कृष्ण-पुत्र से गंधर्व विवाह किया था, जिस कारण से दैत्य एवं कृष्ण में युद्ध हुआ था। ये बड़े शिल्प दैत्य के महल के अवशेष हैं। 2. तपोगच्छ जैन मंदिर, उदयपुर– इस प्राचीन मंदिर का जीर्णोद्धार कुछ वर्ष पूर्व हुआ था। इसके परिसर

में खुले स्थान पर 1.4 मीटर की मार्बल पट्टी पर उकेरे शिल्प खड़े हैं, जिनमें एक में स्त्री चंवर लिये खड़ी है अनेक आभूषण बारीकी से बने हैं, पैरों के पास दो छोटी मूर्तियां भी हैं। पटना संग्रहालय की चंवरधारिणी एक चर्चित शिल्प है, किन्तु उदयपुर की चंवरधारिणी भी कुछ कम नहीं है। मंदिर की चारदीवारी के पीछे की तरफ एक भूला बिसरा शिल्प चुना हुआ है, इसमें पार्वती शिव की बाईं जांघ पर बैठी हैं, नीचे नन्दी हैं, दोनों तरफ कार्तिकेय और गणेश अपने वाहनों पर बैठे हैं।

द. भारत के ममलापुरम के महिषासुरमर्दिनी मंदिर के बरामदे के दो स्तम्भ देखने से कला एवं विज्ञान का संगम देखने को मिलता है। स्तम्भ के सबसे नीचे सिंह बना है, जिसके सिर के ऊपर का भाग बेलनाकार है, इसके ऊपर का भाग चौड़ा एवं कलात्मक डिजाइन का है। इतना कुछ उकेरने पर भी स्तम्भ की सेंटर लाइन ठीक रही (अन्यथा यह भार लेने में सक्षम न होता)।

श्रीलंका का कोनेश्वरम शिव मंदिर

यह मंदिर श्रीलंका में 'त्रिकामाली' में, गोकरणा खाड़ी में समुद्र की दिशा में जा रही एक पहाड़ी पर स्थित है, जिसके तीन ओर जलधारा है। इस पहाड़ी को स्वामी पहाड़ी नाम से जाना जाता है। शिव को कोनानाथा स्वामी कहते हैं। कथा के अनुसार इसकी स्थापना रावण ने की थी। वर्तमान में इसे कम से कम ईसापूर्व 1580 वर्ष पुराना माना जाता है। ईसा पूर्व 250 में द. भारत के एक चोल राजा Elara Manu Needhi Cholan ने इसका जीर्णोद्धार करवाया था। मदुराई मंदिर की भांति इस मंदिर में भी 1000 खंभे थे, गोपुरम अत्यंत ऊंचा था एवं शिविलिंग हिमालय क्षेत्र से संबद्ध था। 17वीं सदी के एक शिलालेख के अनुसार मंदिर का समय ईसापूर्व 1580 का है। 6ठी सदी ईसापूर्व दक्षिण भारतीय राजकुमार के यहां पहुंचने के समय भी यह मंदिर था। पुर्तगाली शासन के समय में इस क्षेत्र के राजा को मंदिर को ध्वस्त करने को कहा गया था, राजा के मना करने पर पुर्तगाली शासन क्रुद्ध हुआ, मंदिर के पुजारियों ने यथासंभव मूर्तियां इत्यादि जमीन में गाड़ दी थी। सन 1622 में मंदिर को तोप से उड़ा कर ध्वस्त कर दिया गया, क्योंकि पुर्तगाली यहां बंदरगाह बना रहे थे। मंदिर का अधिकांश भाग समुद्र में गिर गया था, बचे खुचे पत्थरों को बंदरगाह बनाने में उपयोग किया गया। सन् 1956 में एक विदेशी ने उत्सुकतावश गोताखोरों द्वारा खोज करवाई जिसके फलस्वरूप कुछ मूर्तियां, कुछ टूटे हिस्से एवं शिवलिंग बरामद हुए थे, वह विदेशी उस शिवलिंग से इतना प्रभावित हुआ कि भारत में स्वामी की तरह रहने लगा। मंदिर का जीर्णोद्धार किया गया, यह कार्य 1963 में पूरा हुआ, शिवलिंग पुनः स्थापित किया गया। शिवलिंग परिसर के समीप ही पार्वती का मंदिर भी है। 6ठी सदी के शैव मतावलम्बी संत सामबंधार ने इस मंदिर की महिमा का बखान अपने ग्रंथ 'थेवरम' में किया था। 15वीं सदी के संत अरुनागिरि नाथार ने भी इसको महत्वपूर्ण बताया था (ये शिवपुत्र मुरुगन/कार्तिकेय के भक्त थे)। इस मंदिर का शिवलिंग 'स्वयंभू' कहा जाता है, संसार में इस प्रकार के लिंगों की संख्या 69 बताई जाती है।

पद्मनाभ स्वामी मंदिर एवं महाशालिग्राम

यह प्राचीन मंदिर केरल राज्य के तिरुवनंतपुरम में स्थित है। इस शहर को अनंत (विष्णु) का स्थान भी कहा जाता है। एक कथानुसार मंदिर की मूल स्थापना मर्हषि परशुराम ने की थी। इस मंदिर के गोपुरम का ऊपरी भाग नाव के आकार का है (16वीं सदी का), यहां विष्णु मूर्ति अनंत शयन मुद्रा में है। पूर्व ट्रावनकोर राजघराने की राजकुमारी द्वारा अंग्रेजी में लिखी गई– पुस्तक में इस प्राचीन विष्णु मंदिर के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी उपलब्ध है। प्रचलित जानकारी के अनुसार मंदिर छठी शताब्दी का है, अनेक प्राचीन ग्रंथों में भी इस तीर्थ का उल्लेख हुआ है। इंटरनेट से उपलब्ध जानकारी के अनुसार शयन मुद्रा में 5.3 मीटर लम्बी यह विष्णु मूर्ति नेपाल की गंडकी नदी में मिलने वाले 1008 शालिग्राम से बनी है, पुस्तक के अनुसार इनकी संख्या 12008 है, जो नेपाल से हाथियों पर रखकर लाये गये थे। इन्हें किसी रसायन से जोड़ा गया था, जिसकी जटिल प्रक्रिया का विस्तृत उल्लेख भी इस पुस्तक में है। ऊपर से स्वर्ण पतरा चढ़ाया गया था। मंदिर का ध्वज स्तम्भ 24 मी. ऊंचा है। मंदिर के केंद्रीय गलियारे की भीतरी छत पर 'मेरु चक्र' उकेरा हुआ है, जिसके केंद्र में बिन्दु स्पष्ट दिखता है एवं दोनों ओर चित्र एवं रेखा चित्र दिए

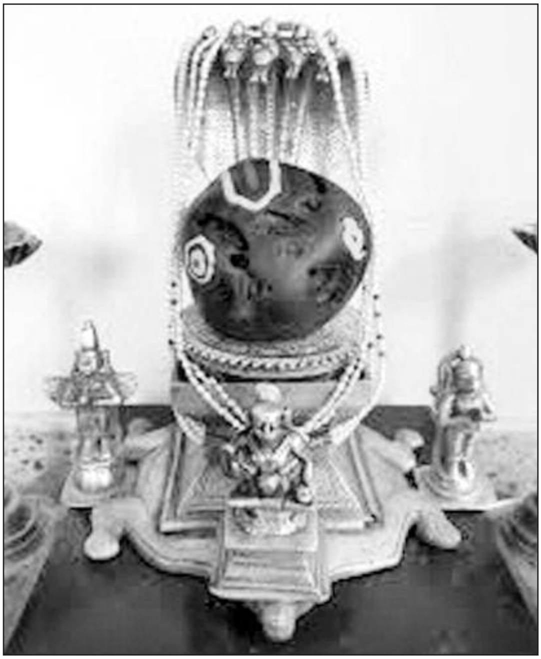

गये हैं। इसमें विष्णु-मूर्ति की नाभि में कमल अर्थात ब्रह्म कमल बना हुआ है। मंदिर के तीन द्वार हैं, जिनसे 5.4 मी. (18 फीट) लम्बी मूर्ति पूर्ण रूप से देखी जा सकती है। ये ट्रावनकोर राजघराने के कुल देवता हैं एवं पूर्व महाराजा मंदिर-न्यास में शामिल हैं। इस मंदिर को चढ़ावे में अकूत सम्पत्ति प्राप्त हुई– स्वर्ण सिंहासन, मुकुट, मूर्तियां, जेवरात, हीरे एवं अन्य बहुमूल्य रत्न जिन्हें छह तहखानों में रखा गया है। इनका मूल्य आंकना संभव नहीं है। एक तहखाने के द्वार पर दो सर्पों के चित्र हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि द्वार खोलने पर रक्षक सर्प मृत्यु प्रदान करेंगे। बताया जाता है कि यह मंदिर थिरुवत्थूर के आदिकेशव पेरूमल मंदिर की प्रतिकृति है। इस मूर्ति का मूल स्थान कुम्बला का अनंतपुरम मंदिर है। मुख्य मूर्ति के अतिरिक्त स्वर्ण निर्मित 1.1 मीटर की पद्मनाभ स्वामी की एक अन्य मूर्ति भी यहां है। मंदिर में एक बड़े आकार के शालिग्राम को भी विष्णु रूप में पूजा जाता है। पद्मनाभ से तात्पर्य है जिसकी नाभि में पद्म (कमल) है। प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज ने अपनी पुस्तक 'साधु दर्शन एवं सत्प्रसंग' में लिखा है कि एक बार उनके गुरु परमहंस स्वामी विशुद्धानंदजी (वाराणसी) ने भक्तों के आग्रह पर अपनी नाभि से कमल उत्पन्न किया जो कुछ समय बाद वापस नाभि में लुप्त हो गया।

कुलशेखरा मंडपम

इसमें कुछ उल्लेखनीय शिल्प हैं– **1.** एक स्तम्भ पर गोपाल (चतुर्भुज विष्णु) अपने दोनों हाथों में छोटी सी सुन्दर लक्ष्मी को लिये हैं (जिनकी हथेलियों में अमृत कलश है)। **2.** ध्यान महाविष्णु- एक स्तम्भ पर विष्णु ध्यानरत दिखाये गये हैं। **3.** एक भीतरी छत पर बैल और हाथी का शरीर इस प्रकार उकेरा गया है कि उनका सिर एक ही है, भिन्न-भिन्न प्रकार से देखने पर पूर्णतया दिखाई देते हैं। यह रोचक है कि इस प्रकार का शिल्प दारासुरा मंदिर (कुम्भकोणम) में भी बना हुआ है।

सिरपुर सुरंग टीला मंदिर

यह मंदिर 7वीं सदी का है, छत्तीसगढ़ के महासमन्द जिले में रायपुर से 78 कि.मी. पर स्थित है। 11वीं सदी में भूकम्प के कारण वहां आसपास के सभी भवन ध्वस्त हो गये थे, किन्तु यह जस का तस रहा, इसमें केवल ऊपर जाने की सीढ़ियों के दोनों छोरों पर पत्थरों का व्यवहार किया गया था। यहां तीन शिव मंदिर एवं दो विष्णु मंदिर थे। इस क्षेत्र को चीनी यात्री Hien Tsong ने सन् 639 में देखा था, क्योंकि वहां बौद्ध (एवं जैन) मंदिर भी थे। वर्ष 2017 में नासा का एक अंतरिक्ष यात्री यहां आया था, और उन्होंने डॉ. ऐ. के. शर्मा से मंदिर परिसर में चर्चा की थी। डॉ. शर्मा ने उन्हें इस प्रकार जानकारी दी थी– 1. यह संरचना भूकम्परोधी थी, केवल सीढ़ियों के दोनों छोर पर के पत्थर ऊपर की ओर उठ गये हैं, जिसका कारण 11वीं सदी का भूकम्प था। 2. यह संरचना उन्नत तकनीक से बनाई गई थी, जिसकी जानकारी उस समय के स्थानीय लोगों को ऐलियंस ने दी होगी। 3. पत्थरों को जोड़ने हेतु जो मिश्रण व्यवहार किया गया था, वह कंकरीट से कई गुना अधिक मजबूत था। इसकी जानकारी ग्रंथ 'मायामतम' (मयासुर द्वारा रचित) में उपलब्ध है, जिसके दो भाग हैं। यह जानकारी 4500 वर्ष प्राचीन है, पहले श्रुति से ही पीढ़ी दर पीढ़ी उपलब्ध रही, बाद में पुस्तक के रूप में उपलब्ध हुई। 4. मंदिर क्षेत्र के अंदर 25.5 मी. गहरे कुएं बनाये गये थे, ताकि भूकम्प का प्रभाव शिथिल रहे। मंदिर के एक

शिलालेख के अनुसार राजा शिवगुप्त बालारजुना के समय में यह मंदिर पूजा अर्चना हेतु उपलब्ध था। यह तांत्रिक साधना का केंद्र भी था, यहां एक 16 मुखी काले पत्थर का शिव लिंग भी है, जो कि बाद के समय का प्रतीत होता है।

पाकिस्तान में हिन्दू मंदिर

कटासराज शिव– चकवाल में स्थित इस मंदिर में अत्यंत प्राचीन शिवलिंग है, इसके समीप एक सरोवर है जिसकी गहराई 7.5-9 मी. है। मान्यता के अनुसार सती के वियोग से दुखी शिव के नेत्रों से गिरे अश्रुओं से यह सरोवर एवं पुष्कर (राज.) सरोवर बने थे। यह भी कहा जाता है कि युद्धिष्ठिर-बक यक्ष संवाद इसी स्थान पर हुआ था। यह मंदिर 2500 वर्ष प्राचीन है, अत्यधिक मान्यता है, गुरु नानक भी यहां पधारे थे, मुसलमान भी आस्था रखते हैं। पुराण में भी इसका उल्लेख है। मंदिर जर्जर है। सरोवर में गंदगी है। इस मंदिर के पास 6 अन्य मंदिर हैं, किन्तु वे खुले हुए नहीं हैं। इसी क्षेत्र में सम्राट अशोक का मंदिर भी है। वर्ष में दो बार भक्त आते हैं, स्थानीय हिन्दू नगण्य हैं। **लाहौर–** 1. श्रीराम के पुत्र लव ने इस शहर को बसाया था, उनको स्थानीय भाषा में लह भी कहा जाता था, इस कारण शहर का नाम बदलते हुए लाहौर हो गया। लव के मंदिर के खंडहर भी हैं, किन्तु कोई मूर्ति नहीं है। 2. कृष्ण मंदिर, शीतला मंदिर, वाल्मीकि मंदिर- इन सब को उपद्रवियों ने तोड़ दिया था, जिसके उपरान्त उन्हें फिर से स्थापित किया गया, किन्तु उनके परिसर अब मंदिर जैसे नहीं रहे। 3. पुराना बासुली हनुमान मंदिर– यह अनारकली बाजार क्षेत्र में एबक मार्ग पर स्थित है। इंटरनैट पर देखने से पता चला कि मंदिर बहुत ऊंचा एवं भव्य बनाया गया था। वर्तमान में यह मंदिर बंद पड़ा है क्योंकि स्थानीय लोगों ने इसके चारों ओर मकान/दुकान बना कर कब्जा कर लिया है। 4. देवी मंदिर, मीठा बाजार, लोहरी गेट– इस मंदिर का उल्लेख 1875 में कन्हैया लाल द्वारा लिखित पुस्तक में मिलता है। वर्तमान में एक शोधकर्ता ने इसे उजागर किया, जयपुरी लाल पत्थर से बने बड़े गेट पर सूर्य उकेरा हुआ देखकर वह अंदर गया, वहां एक सेवई बनाने की फैक्ट्री से होकर गेट के भीतर आगे जाने पर मंदिर के गर्भगृह का क्षेत्र दिखा, किन्तु कोई मूर्ति नहीं थी, और आगे जाने पर देवी का मंदिर पूरा दिखा, जो कि मकानों से घिरा होने के कारण आंखों से ओझल रहता है। 5. रतनचंद मंदिर– यह अनारकली बाजार के समीप स्थित है, मंदिर भव्य था, किन्तु ध्वस्त किया गया था, अतः उपयोग में नहीं है। **सियालकोट** का तेजासिंह मंदिर– यह मंदिर प्रायः 1000 वर्ष प्राचीन है। मंदिर का गुम्बद ध्वस्त है। कोई प्रतिमा नहीं है। वर्तमान में नशेड़ियों का अड्डा है। पाकिस्तान में मंदिरों को तोड़ा और जलाया गया। **शारदा पीठ :** यह कश्मीर की नीलम घाटी में स्थित है, जो कि पाकिस्तान के अनाधिकृत कब्जे में है। वर्तमान में केवल खंडहर ही देखे जा सकते हैं। प्राचीन समय में यह अत्यंत महत्वपूर्ण पीठ था। आदि शंकराचार्य भी वहां गये थे। **हिंगलाज माता :** यह स्थान 51 शक्तिपीठों में से एक पीठ है जहां सती का सिर गिरा हुआ माना जाता है। यह बिलोचिस्तान (पाक द्वारा अनाधिकृत) में है। इस तीर्थ का दर्शन करने अनेक क्षेत्रों से भक्त पहुंचते हैं, मुस्लिम भी जाते हैं, वे इसे नानी का मंदिर कह कर सम्बोधित करते हैं। माता की मूर्ति एक पहाड़ में बनी सुरंग में है। इस स्थान पर पहुंचने का मार्ग अत्यंत दुर्गम है।

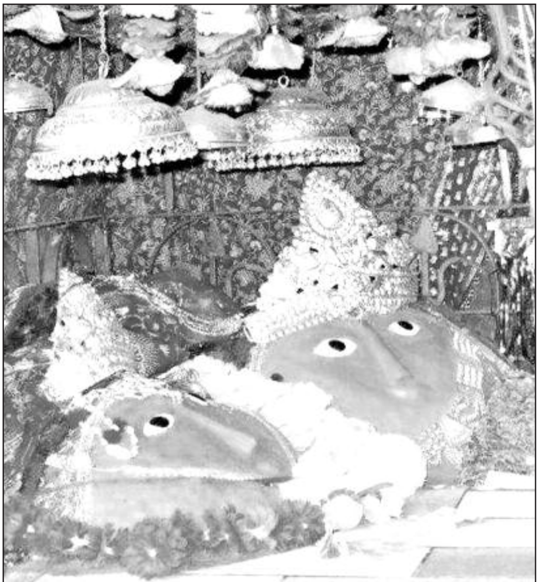

हिंगलाज माता, पाकिस्तान

प्राचीन समय की तकनीक निपुणता

प्राचीन समय निम्न उत्कर्ष पर थे– 1. भवन निर्माण, दीवारें, देवालय (पिरैमिडस, पेरू एवं टर्की, पेरू का सूर्य मंदिर, भारत के अनेक मंदिर)। डूंगरपुर (राज.) के 12वीं सदी के देव सोमनाथ मंदिर (तिमंजिला) में पत्थर जोड़ने के लिए कोई मसाला उपयोग नहीं किया गया था। मिस्र एवं पेरू में निर्माण में बहुत मात्रा में स्वर्ण का उपयोग हुआ। धातु विज्ञान कठिन विषय है, किन्तु उस समय के लोग प्रवीण थे। जावर (राज.) में सीसा, जस्ता धातु का खनन होता था। धोलावीरा (गुजरात) पुरास्थल पर छिद्रयुक्त ताम्र का मनका पाया गया था। 3500 वर्ष पूर्व की एक नॉर्डिक कब्र से नीले कांच के मनके मिले थे, पता चला कि ये वहीं फैक्टरी में बनाये गये थे। **प्राचीन दीवार-** मिस्र के 5300 वर्ष प्राचीन पिरैमिड से भी प्राचीन है; 10000 वर्ष पहले की दीवार जो कि टर्की के Goeberil Tepe में पाई गई है। यह मैसोपोटेमिया सभ्यता की है।

प्राचीनतम लेख : ताड़पत्र पर तमिल में 2600 वर्ष पूर्व के लेख उपलब्ध हैं। एक विशेष प्रकार के ताड़ वृक्ष के पत्तों को 6 दिन पानी में भिगो कर रखने के उपरांत उन्हें सुखा लिया जाता है, फिर उन्हें उचित आकार में काट लिया जाता है। संरक्षित करने हेतु हल्दी एवं एक योगिक को कपड़े में भिगो कर पत्तों पर हल्का सा घुमा दिया जाता है। लिखने का तरीका–1. लोहे की लम्बी नुकीली कील द्वारा, 2. कलम एवं स्याही से। पहला तरीका अच्छा माना जाता है, क्योंकि इसमें लिखने के उपरांत कोई बदलाव करना संभव नहीं है। लिखने में दक्षता की अत्यंत आवश्यकता होती है। ताड़ पत्ते की लम्बाई अधिक एवं चौड़ाई कम होती है, इन्हीं पर चित्र भी बनाये जाते हैं।

सुश्रुत संहिता : आचार्य सुश्रुत ने इस आयुर्वेद ग्रंथ की रचना 2600 वर्ष पूर्व की थी। अध्ययनकर्ता प्रवीन मोहन ने इस ग्रंथ को History.com के विदेशी अधिकारी को महाबलीपुरम (त.ना.) के संग्रहालय में दिखाया था। ऐसी मान्यता है कि सुश्रुत को यह ज्ञान देव धनवंतरी से प्राप्त हुआ था। इस ग्रंथ में चिकित्सा पद्धति विस्तार से वर्णित है, 8 प्रकार की शल्य चिकित्सा का उल्लेख है। इसमें टांके लगाने की विधि भी दी गई है। हमारे देश में प्राचीन ग्रंथ ज्ञान के भंडार हैं, किन्तु दुर्भाग्य कि उनको कोई समझना नहीं चाहता और अब सक्षम भी नहीं रहे, क्योंकि संस्कृत का अभीष्ट ज्ञान ही नहीं है।

सूर्य सिद्धांत : ताड़पत्र पर लिखा गया यह ग्रंथ 2000 वर्ष प्राचीन है। इसमें खगोलीय गणनाओं का उल्लेख है, जैसे- 1 वर्ष में दिनों की संख्या जो वर्तमान के आंकड़े से करीब-करीब मेल खाती है। 2. ग्रहों का आकार एवं उनकी दूरी। यद्यपि उस समय किसी प्रकार के उपकरण उपलब्ध नहीं थे, फिर भी वर्तमान के आंकड़ों से केवल एक प्रतिशत की भिन्नता है। 3. इस ग्रंथ में यह भी वर्णित है कि पृथ्वी चपटी न होकर गोल है, जबकि पश्चिम के अनुसंधानकर्ताओं को यह जानने के लिए अनेक वर्ष लगे।

प्राचीन कल्प विग्रह : यू ट्यूब पर उपलब्द्ध रोचक जानकारी के अनुसार पीतल से बनी एक सूक्ष्म आकार की मानव मूर्ति है जिसमें शिव एवं विष्णु के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। कथानुसार–1. लकड़ी के बक्से में रखी इस मूर्ति को एक तिब्बती साधु ने अमेरिकी सी.आई.ई के एक अधिकारी को सौंपा था, क्योंकि उसे कुछ अहित की आशंका का आभास हुआ। कुछ समय उपरान्त ही उसकी मृत्यु हो गई। 2. काफी समय तक यह बक्सा उनके मुख्यालय में उपेक्षित सा पड़ा रहा, यद्यपि साधु ने सारांश में इस मूर्ति के महत्व को बताया था। 3. इस पर ध्यान जाने पर बक्से की लकड़ी का काल पता किया गया, कार्बन डेटिंग के अनुसार यह ईसापूर्व 24650 वर्ष की थी। 4. बक्से में एक प्राचीन पुस्तक भी मिली थी, जिसकी भाषा संस्कृत से कुछ भिन्न थी। अत्यंत कठिनाई से इसका अनुवाद करवाया गया। इसमें एक सूत्र यह भी था कि मूर्ति को 9 दिन पानी में डुबो कर रखने के उपरांत उस पानी को 3 दिन तक पीने से व्यक्ति की आयु बढ़ जायेगी। 5. सी.आई.ए. इसके प्रयोग को गुप्त रखना चाहता था, इस कारण जिस व्यक्ति पर प्रयोग करना था, उसे भी इस संबंध में नहीं बताना था। किन्तु यह योजना कारगर न हुई। कुछ दिनों बाद पता चला कि मूर्ति एवं पुस्तक गायब हो चुके थे। पुस्तक तो माइक्रोबायोलाजी विषय के एक अधिकारी से

मिल गई, किन्तु मूर्ति का संधान नहीं हो सका।

टिप्पणी– 1. पीतल की वस्तुओं में कुछ समय उपरान्त कालापन दिखने लगता है, जबकि मूर्ति में चमक थी, जिसका कारण मूर्ति में स्वर्ण भी हो सकता है। 2. साधु ने सी.आई.ए. से किस प्रकार सम्पर्क साधा, बक्से को किसी अन्य व्यक्ति को क्यों नहीं दे दिया या जमीन में गाड़ दिया। 3. लकड़ी का बक्सा एवं पुस्तक इतने लम्बे समय तक क्योंकर सुरक्षित रहे? 4. पुस्तक एवं उसका अनुवाद क्यों नहीं प्रकाशित किया गया।

विश्व का पहला विमान भारतीय था

इस बात का ही अधिक प्रचार हुआ कि वर्ष 1903 में Wright Brothers ने सबसे पहले विमान बनाकर उड़ाया था। किन्तु सत्य यह है कि मराठी शिवकर बापूजी तालपदे ने वर्ष 1895 में जूहू चौपाटी, मुम्बई में अपने बनाये विमान को रिमोट कंट्रोल से उड़ाया था। विमान 450 मी. ऊंचाई तक पहुंचा था एवं इसी कंट्रोल द्वारा धरती पर सकुशल लौट आया था। इसके साक्षी बड़ौदा महाराजा सायाजी गायेकवाड़, बम्बई हाईकोर्ट के जस्टिस महादेव गोविंद राणाडे एवं हजारों अन्य व्यक्ति थे। इसका नाम वरूसश्वा रखा गया था। तालपदे को आर्थिक सहायता की अत्यंत आवश्यकता थी, किन्तु कहीं से प्राप्त नहीं हुई। ऐसे समय में ब्रिटेन के Rally Bros. ने उनसे मुलाकात कर एक अनुबंध किया और विमान का नक्शा इत्यादि प्राप्त कर लिया, किन्तु उन्होंने विश्वासघात किया। उसके उपरान्त यह सब जानकारी अमेरिका पहुंचा दी गई, जिसके आधार पर Wright Brothers ने हवाईजहाज बनाया था। तलपदेजी का जीवन कष्टमय रहा एवं वे गुमनामी में खो गये। तलपदे जी छोटी उम्र से ही संस्कृत के ग्रंथ पढ़ते थे, उन्होंने महर्षि भारद्वाज द्वारा लिखे गये 'विमान शास्त्र' का गहन अध्ययन कर उक्त विमान बनाया था। उस शास्त्र में 3000 श्लोक थे, 8 अध्याय विमान बनाने से संबंधित थे, 500 सिद्धांत दिये गये थे, विमान बनाने की 32 प्रक्रिया वर्णित थीं। भारतीय प्राचीन ग्रंथ ज्ञान के अथाह सागर हैं। (संदर्भ- भाई राजीव दीक्षित का वीडियो)।

स्वर्ण मयूर घड़ी

यह घड़ी वर्ष 1777 में ब्रिटेन के यांत्रिक विशेषज्ञ जेम्स काक्स ने बनाई थी एवं वर्ष 1797 में इसे रूस के Prince Grigory Potemkin ने Catherine the great Great के लिये खरीदा था, बताया जाता है कि वह उनकी पत्नी थीं, किन्तु समाज के लोगों को इसकी जानकारी नहीं थी। वर्ष 1799 में इसे रूस के ही Saint Petersburg स्थित Heritage museum में रखवा दिया गया जहाँ प्रति गुरुवार को इसे चलाकर पर्यटकों को दिखाया जाता है। इसका नाम 'स्वर्ण मयूर घड़ी' अवश्य है, किन्तु यह घड़ी के साथ-साथ स्वर्ण से निर्मित एक छोटा सा बगीचा ही है, जिसमें पेड़, मोर, उल्लू, ड्रैगन फ्लाई, गिलहरी एवं मुर्गा देखे जा सकते हैं। इसे चलाने पर अनेक गियर चक्र एवं लीवर से संचालित पक्षी जीवंत हो उठते हैं। एक विशेष चाबी लगा कर घुमाने से प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। पहले अल्प समय के लिए 'जिंगल बैल' की धुन सुनाई देती है, फिर उल्लू अपना सिर घुमाता है। इसके बाद मोर अपनी पूंछ उठाता है, गर्दन घुमाता है, शरीर के ऊपर के पंख उठाता/तानता है, अंत में मुर्गा आवाज करता है। लीवर एवं गीयर इन पक्षियों के पास दिखाई नहीं देते हैं। घड़ी तो एक कुकुरमुत्ते में छिपी-सी है, यह समय रोमन अंक में दर्शाती है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि आज से 250 वर्ष पूर्व भी ऐसे विशेषज्ञ थे जो इस प्रकार का जटिल यांत्रकीय ढांचा बनाने में समर्थ एवं सक्षम थे।

प्रतापी सम्राट समुद्र गुप्त

भारतीय इतिहास के सुप्रसिद्ध राजवंश गुप्तवंश में समुद्रगुप्त प्रतापी सम्राट हुए जिनका शासन काल ईस्वी सन् 335 से 380 था। कवि हरिषेण द्वारा रचित और प्रयागराज (इलाहाबाद) से प्राप्त एक प्रस्तर स्तम्भ पर उत्कीर्ण प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त का राज्य उत्तर में हिमालय से, दक्षिण में नर्मदा नदी तक और पश्चिम में चम्बल एवं यमुना तक विस्तृत था। दक्षिण पूर्व एशिया के राजाओं से उनके मैत्री संबंध थे। इस प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के गुणों एवं उनके विजय-अभियानों का वर्णन है। समुद्रगुप्त प्रजा हितैषी एवं दूरदर्शी शासक थे। साहित्य और संगीत में उनही अभिरुचि थी। उक्त प्रशस्ति लेख में उन्हें परम भागवत कहा गया है। तथापि उनके द्वारा प्रवर्तित स्वर्ण एवं रजत के कुछ सिक्कों पर देवी दुर्गा, गंगा, यमुना का भी अंकन है। उन्होंने स्वयं

द्वारा किए गए अश्वमेध यज्ञ की स्मृति में प्रवर्तित स्वर्ण-मुद्राओं पर यज्ञ में बलि दिए जाने वाले अश्व का अंकन है। एक सिक्के में उन्हें एक वाद्ययंत्र (संभवतया वीणा) बजाते दिखाया गया है। स्वर्ण-रजत के ये सिक्के उनके राज्य की समृद्धि के भी द्योतक हैं।

अनोखी आन

अयोध्या एवं समीप के गांवों में रहने वाले क्षत्रिय स्वयं को श्री राम के वंशज मानते हैं। इनके पूर्वज ठाकुर गजसिंह ने 16वीं सदी में अयोध्या में राम जन्मभूमि मंदिर बचाने हेतु मुगल-सेना से युद्ध लड़ा था, किन्तु हार गये थे। इसके उपरांत इन्होंने शपथ ली थी–*'जन्मभूमि उद्धार होय ता दिन बड़ा भाग। छाता, पगपनहीं नहीं और न बांधाहि पाग।'* इस प्रकार इन्होंने संकल्प लिया था कि जब तक राम जन्म-भूमि का उद्धार नहीं हो जाता, तब तक छाता नहीं व्यवहार करेंगे और नहीं पगड़ी और चमड़े के जूते पहनेंगे। पुराने समय में समाज में पगड़ी का बहुत महत्व था, जिसे उन्होंने त्याग दिया था। इनकी बाद की पीढ़ियों ने भी इस शपथ का पूर्णरूपेण पालन करते हुए शादी एवं अन्य महत्वपूर्ण समारोहों में भी पगड़ी बांधी नहीं। यह सिलसिला पिछले 500 वर्ष से चला आ रहा था। खड़ाऊं/कैनवास के जूते पहनते थे। अयोध्या पर सुप्रीम कोर्ट का फैसला आने पर इन सभी ठाकुर गजसिंह के वंशजों को अत्यंत प्रसन्नता एवं संतुष्टि हुई, अब वे अपनी शपथ से मुक्त होकर पगड़ी एवं पगपनही पहन रहे हैं तथा छाता रखने लगे हैं।

अंतरिक्ष से संकेत

कुछ समय पहले ही वैज्ञानिकों को ज्ञात हुआ है कि अंतरिक्ष की गहराई से शक्तिशाली रेडियो संकेत प्रति 16.35 दिन पर पुनः प्रसारित हो रहे हैं। यह Fast rated bursts चार दिन तक प्रति घंटे 1/2 सिगनल देते रहते हैं, इसके उपरांत अगले 12 दिन खामोशी रहती। संकेत 50 करोड़ प्रकाश वर्ष दूरी से प्राप्त हो रहे थे।

गर्भस्थ शिशु की क्षमता-आधुनिक खोज

जापान के Dr. Makoto Shichida ने अपनी पुस्तक Right Brain Education in Infancy में कहा है कि मस्तिष्क का दाहिना भाग गर्भस्थ अवस्था में भी सक्रिय रहता है, यह 'एक्सट्रा सैन्सरी परसैप्शन' (ESP) का भी केंद्र होता है। शरीर के सेल संवेदनशील होने के कारण मस्तिष्क को सूक्ष्म ऊर्जा पैटर्न भेज सकते हैं। शिशु को ईपीएस का अनुभव होता है और अपने सेल द्वारा वह बाहरी दुनिया की जानकारी प्राप्त कर लेता है और कम फ्रिक्वेंसी की ध्वनि सुन सकता है। उपरोक्त से सिद्ध होता है कि गर्भस्थ शिशु सुनने एवं समझने में समर्थ होता है, इसी कारण उसे मातृभाषा सरलता से समझ आती है। (संदर्भ : 1. Bhawans Journal 15.1.20)। (इस खोज से महाभारत में गर्भस्थ अभिमन्यु को चक्रव्यूह भेदन का ज्ञान होने के प्रसंग का स्मरण होता है।

वेष-भूषा-अलंकार : विगत व वर्तमान

आदिम मानव नग्न रहता था, इसके उपरान्त उसने वृक्ष-छाल एवं पशु-चर्म व्यवहार किया; कुछ ने नग्नता को ढकने के लिए पटसन के रेशों को लटकाकर, स्त्रियों ने स्कर्टनुमा परिधान और पुरुषों ने लिंग ढकने की व्यवस्था कर ली। बहुत बाद में रूई का उत्पादन होने पर कपड़े का प्रयोग हुआ। सुन्दर दिखने की इच्छा भी उत्पन्न हुई जिससे आभूषण धारण किए जाने लगे। ईथोपिया के मुरसी कबीले के लोग अभी भी नग्न रहते हैं, स्त्रियां एवं पुरुष अपने शरीर पर सफेद या रंगीन मिट्टी लेपते हैं, स्तन एवं लिंग पर कलात्मक ढंग से लगाते हैं। कुछ पुरुष लिंग पर सूखी सब्जी के पतले खोल (तुम्बी सरीखा) का कवर लगाते हैं। एक खनि अभियंता के संस्मरण के अनुसार 25 वर्ष पहले नागालैंड में भी लोग नग्न ही रहते थे।

पुरुषों एवं स्त्रियों द्वारा सिर ढकना - पुरुष टोपी, साफा, पगड़ियां पहनते थे और स्त्रियां साड़ी, स्कार्फ, चुन्नी एवं सिर पर विशिष्ट टोपी पहनती थी। चित्रों एवं प्राचीन शिल्प से इसकी जानकारी प्राप्त होती है।

(1) काटासराज (पाक) के चित्र अर्जुन-विवाह में बालकनी में बैठी अधिकांश महिलाओं ने सिर ढका हुआ है, कुछ ने नहीं; अविवाहित हो सकती हैं। (2) 8वीं सदी की प्रेम कथा–मालती माधवन के चित्रण में सभी ने सिर

रोम के एक चित्र में सिर ढके स्त्रियां

ढका हुआ है। (3) बून्दी (राज.) संग्रहालय के एक चित्र में सुन्दर स्त्री ने टोपी से सिर ढका है, गले में हार एवं नाक में नथ है। (4) चंबा (हि.प्र.) के एक चित्र में गोपियां सिर ढके हैं। (5) ग्वालियर के स्वर्ण जैन मंदिर के एक चित्र में राजा-रानी ऋषभदेव तीर्थंकर को भिक्षा दे रहे हैं, रानी-राजा ने सिर ढका है। (6) हैदराबाद संग्राहलय की रैबेका का पूरा शरीर एवं सिर झीनें कपड़े से ढका है। (7) सम्राट अशोक के समय को दर्शाते शिल्पों (सांची) में स्त्री-पुरुष सिर ढके हैं। (8) मिस्र एवं माया सभ्यता के शिल्पों में पुरुष एवं स्त्री सिर ढके हैं। (i) मेरी (Mary) एवं मेरी-जीसस (Jesus) शिल्पों में मेरी सिर ढके है। (9) रोम में विवाह उपरांत स्त्रियां सिर ढकतीं थीं।

पुरुष– (i) हुलासखेड़ा (उ.प्र.) के 3000-1800 वर्ष पुराने तीन शिल्पों में पुरुषों की विभिन्न प्रकार की टोपियाँ दर्शायी गई हैं।

(ii) कान में कुंडल/लौंग/बुन्दे : स्त्रियों के अतिरिक्त पुरुष भी कान में लौंग, मुरकी, कुण्डल पहनते थे, राजस्थान में यह प्रथा अभी भी है। मान्यता रही है कि कान छेदने से रोग प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि होती है। आदिम जातियों में कान में कुछ न कुछ पहनते हैं।

असीरियन एवं माया सभ्यता के शिल्पों में पुरुष बड़े कुंडल पहने हैं। सम्राट अशोक के समय में पुरुष कुंडल पहनते थे। हरप्पा काल में टाप्स इत्यादि पहनते थे। उयपुर के प्राचीन तपोगच्छ जैन मंदिर के एक शिल्प में स्त्री ने बड़े कुंडल पहने है।

केश सज्जा मुसानगर (यूपी)

(iii) केश सज्जा के प्रति भी प्राचीन समय से ही रुचि थी। मूसानगर (उ.प्र.) के 2200-2600 वर्ष पूर्व के पकी मिट्टी के एक शिल्प में स्त्री ने चोटियां बनाई हैं, गले में नेकलेस, माथे पर सिरोभूषण, कुहनी के ऊपर चूड़ियां, कान में कुंडल पहने हैं।

(iv) सुन्दर पतली गर्दन हेतु उत्तरी पूर्वोत्तर में कुछ स्थानों पर, कम आयु में ही लड़की की गर्दन में बड़े आकार की गोलाकार वस्तु पहना दी जाती है।

(v) आभूषण एवं पहनावा– (1) मोहन जोदड़ो से प्राप्त (i) एक पुरुष शिल्प को पुजारी राजा की संज्ञा दी

पुजारी राज, सिंधुघाटी मोहनजोदड़ो

गई है जो डिजाइन वाला परिधान पहने है, सिर ढका है, बांह में बाजूबन्द और माथे पर फीता बंधा है; दोनों में एक नगीना जड़ा है और मिट्टी के दीपक-स्टैंड पर बनी

शृंगार करती स्त्री, सिंधुघाटी मोहनजोदड़ो

मूर्ति के गले और माथे पर आभूषण दर्शाये गये हैं।

2. हरप्पा (पाक)- (1) एक स्त्री मूर्ति में उस समय के सभी व्यवहरित आभूषण पहनाये गये हैं- विभिन्न मनकों की कई मालायें, मिट्टी की चूड़ियां, टाप्स, करधनी एवं अंगूठी, घंटी के आकार के स्वर्ण मनके, जिन्हें पिरोकर माला बना सकते हैं, गोलाकार स्वर्ण पटरों से बना हार।

नर्तकी, सिंधुघाटी मोहनजोदड़ो

(3.) माया सभ्यता के शिल्प में पुरुष गले में आभूषण, कान में कुंडल पहने हैं और सिर पर सजावट है। (4) मिस्र के एक शिल्प में स्त्री के एक हाथ में चूड़ी है, दूसरे में चौड़ा कंगन। (5) मोहनजोदड़ो के नर्तकी शिल्प में हाथ में कंगन, कुहनी के ऊपर अनेक चूड़ी हैं (6) गुलबर्गा (कर्ना.) के अशोक के शिल्प में पैर और बांहों में कड़े पहने हैं। (7) अंगकोर (कम्बोडिया)- खुदाई में मिले स्त्री कंकाल ने सफेद चूड़े हाथ में कंधे तक पहने हैं। (8) बेलूर/हैलेबिड (कर्नाटक) के शिल्प में शृंगार करती युवती आकर्षक है। वह सभी प्रकार के आभूषण पहने है– बाजूबन्द, गले में दो हार, बड़े कुंडल, सिर पर आभूषण, पैर में कड़े, पायल, बिछुए, कमर में चौड़ी तगड़ी। (9) क्लोपैटरा रानी (मिस्र) विभिन्न प्रकार के मनको से बना हार पहनती थी। (10) एक पुस्तक के मुख पृष्ठ पर अफ्रीकी स्त्री सिर में बोरला पहने है। राजस्थान, हरियाणा में इसका व्यवहार अभी भी होता है। (11) तक्षशिला (पाक) संग्रहालय में 200 वर्ष ई.पू. से 200 ई. के अनेक आभूषण हैं। (12) मांडी (मुज्जफरनगर, उ.प्र.) में 4000-2000 वर्ष प्राचीन स्वर्ण गोल/लम्बे मनके मिले हैं। रंगीन पत्थर के भी मनके हैं। यहां से ही हरप्पा काल के बाद के चांदी के खोखले कड़े भी मिले हैं। (13) उदयपुर के– (i) तपोगच्छ जैन मंदिर के एक स्त्री शिल्प में कान के बड़े कुंडल एवं अनेक दूसरे आभूषण बने हैं। हाथ में कलश पात्र है। (ii) प्राचीन नर्बदेश्वर शिव मंदिर में एक शिल्प में स्त्री गले में हँसली व हार, चूड़ी, कड़े एवं अन्य चूड़ियां कंधे के नीचे पहने है। पैरों में कड़े और पायल हैं, परिधान की नक्काशी अत्यंत सुन्दर है। जोधपुर संग्रहालय की गणगौर- चौड़ा नेकलेस और बाजूबंद, चौड़े कंगन/ दस्ती, कुहनी और कंगन के बीच में चूड़ी/ चूड़ा, नथ, अंगूठियां, हथेली के पीछे के भाग पर आभूषण पहने है। (15) सिगरिया फोर्ट (श्रीलंका) के प्राचीन चित्रों में– स्त्रियां पैंडैंट वाले हार, अन्य हार/माला, बड़े कुंडल, बाजूबंद और कुहनी के नीचे चूड़ी पहने हैं। (16) सभी देवी एवं देवताओं के शिल्पों में उकेरे अनेक आभूषण नर्मदेश्वर शिव मंदिर में देखने योग्य हैं। इन शिल्पों से कुहनी के

सज्जित स्त्री, कर्नाटक

ऊपर चूड़ी/ चूड़ा पहनने की प्रथा अत्यंत प्राचीन प्रतीत होती है। (16) गुजरात के धोलावीरा से तांबे के प्राचीन मनके, मिट्टी की चूड़ियां मिली हैं, यहां पर रंगीन पत्थर के मनके बनाने का संयत्र था। (17) 4000 वर्ष पूर्व की आहाड़ सभ्यता के मिट्टी इत्यादि के आभूषण संग्रहालय (उदयपुर) में रखे हैं।

आदिवासियों में सज्जा– (i) नागालैंड के पुरुष-आंखों, मुख के आसपास एवं छाती पर रंग की चौड़ी लकीरों से पैटर्न बनाते हैं, गले में अनेक मनकों की मालायें (मुखाकृति पैन्डैंट भी) पहनते हैं। स्त्रियां कुहनी के ऊपर चौड़ी चूड़ियां। (ii) कान में बड़े पतले सींग जैसी वस्तु के कुंडल पहनती हैं। (2) उड़ीसा में कुछ समुदाय सिर पर सींग वाली टोपी एवं माथे पर छोटे सेहरे जैसी वस्तु पर्व पर गाने-बजाने के समय व्यवहार करते हैं।

वंदनीय पेड़-पौधे

आंवला, वट, पीपल, बेल, कल्प/पारिजात, खेजरी, रुद्राक्ष, केला, तुलसी एवं सफेद आंकड़ा की वंदना प्रचलित है। ऋषि-मुनियों ने ऐसे वृक्षों/पौधों की पूजा का विधान बताया जो जन जीवन के लिए उपयोगी एवं औषधीय गुण युक्त हों।

वट एवं पीपल की अर्चना सुख-समृद्धि हेतु करते हैं। प्राचीन वृक्ष नैमिषारणय एवं गया में हैं, अन्य बड़े वृक्ष कोलकाता, कोटड़ा (राज.), लखपत (कच्छ) में भी हैं। गीता में श्री कृष्ण ने पीपल में अपना वास बताया है। बोध गया में पीपल का वह वृक्ष है, जिसके नीचे बुद्ध को ज्ञान हुआ था, बोधिवृक्ष कहलाता है। गुजरात के भरूच जि. में नर्मदा समीप कबीर वट है।

रुद्राक्ष को शिव का अश्रु कहा गया है और यह अनेक प्रकार का होता है। राजस्थान में खेजरी वृक्ष की पूजा होती है, इसकी पत्तियां विवाह संबंधित पूजा-हवन में व्यवहार की जाती हैं। सफेद फूल वाले आकड़े को शुभ मानते हैं, इसका पुष्प शिव एवं हनुमान को चढ़ाया जाता है। इसकी जड़ को गणेश का स्वरूप मानते हैं, इंदौर में आकड़ गणेश मंदिर है जिसमें इसकी सूखी जड़ों से गणेश, ऋद्धि एवं सिद्धि बने हैं। दक्षिण भारत में हनुमान को मुख्यता पान का पत्ता चढ़ाया जाता है।

कुछ प्रजाति के वृक्ष अपनी लम्बी आयु के कारण वंदनीय बन जाते हैं, ऐसी ही एक किस्म है बाओ बैब। एक चित्र में उसके चारों ओर पूजा का धागा लिपटा था और एक परिवार के लोग प्ले कार्ड से उसे बचाने का संदेश दे रहे थे। पहनावे से भारतीय लगते थे। दक्षिण अफ्रीका में ऐसा वृक्ष करीब 2000 वर्ष प्राचीन है। इसकी ऊंचाई 25 मीटर तक हो सकती है।

कल्पवृक्ष, उसका लाल पुष्प, मांगलियावास राजस्थान

कल्प/पारिजात वृक्ष

कल्पवृक्ष का उल्लेख रुद्रयामल एवं जैन साहित्य/शिल्प में पाया जाता है। मांगलियावास (अजमेर) में कल्पवृक्ष का नर-मादा का जोड़ा था, कुछ वर्ष पहले इनमें से एक धराशायी हो गया, पुरातत्व विभाग ने इन्हें संरक्षित वस्तुओं की श्रेणी में रखा है। इनकी पत्तियां लम्बी एवं कम चौड़ाई की 3 से 7 के समूह में होती हैं। फूल जुलाई-अगस्त में आते हैं और इनका रंग हल्का पीला होता है, कुछ समय बाद गिरने से पहले यह रंग लालिमा लिये हो जाता है। एक दूसरे प्राचीन वृक्ष को पारिजात वृक्ष कहते हैं। कथानुसार अर्जुन इसे स्वर्ग से लाया था। वृक्ष के पास ही एक छोटा शिव मंदिर है, यह वृक्ष बाराबंकी (उ. प्र.) जिले के किन्तूर में स्थित है। एक अन्य कथा के अनुसार कृष्ण इन्द्र से युद्ध कर इस वृक्ष को लाये थे और पूजा विधान की समाप्ति पर इसे स्वर्ग वापस कर दिया गया था। लोद्रावा (जैसलमेर) जैन मंदिर में कल्प वृक्ष एक ऊंचे स्थान पर लगा हुआ है।

वृक्ष वंदना के शिल्प

सांची स्तूप में- एक शिल्प में पौधा/पेड़ भूमि से ऊंचाई पर लगा हुआ है, नीचे दोनों तरफ दो व्यक्ति हाथ

वृक्ष वंदना, सांची (मध्य प्रदेश)

जोड़े खड़े हैं। ऊपर यक्ष/गंधर्व माला लिये हुए स्तुति कर रहे हैं। दूसरे शिल्प में जमीन से ऊंचाई पर वृक्ष है, दोनों ओर माला लिये हुए यक्ष/ गंधर्व हैं, उनके नीचे दोनों ओर तीन स्तर की पंक्तियों में स्त्री पुरुष स्तुति कर रहे हैं। इसमें हाथी पर एक स्त्री बैठी है, हाथी का मुख वृक्ष से विपरीत दिशा में है। इसे बोधि स्तुति बताया जाता है। यद्यपि पौधे/वृक्ष की पत्तियां पीपल जैसी लगती हैं, किन्तु यक्ष/गंधर्व द्वारा स्तुति चित्रण विचित्र सा प्रतीत होता है। एक अन्य शिल्प में एक ऊंचे चबूतरे पर पौधा/वृक्ष लगा हुआ है। सीढ़ियों के नीचे एक व्यक्ति झुका हुआ वंदना मुद्रा में है। ऊपर एक यक्ष/ गंधर्व माला लिये हुए है। दीवार पर एक पंचमुखी सर्प फण बना है, थोड़ी दूर पर दो अन्य व्यक्ति भी खड़े हैं। जावा के एक शिल्प में कल्प वृक्ष के दोनों तरफ पक्षी बने हैं, वृक्ष में फूल उकेरे हुए हैं। वृक्ष के दोनों तरफ एक पशु बैठा है, जिसके कान चौड़े हैं। एक शिल्प में कल्पवृक्ष के दोनों ओर यक्ष/ गंधर्व हैं और नीचे किन्नर-किन्नरी।

जैन मंदिरों में कल्पवृक्ष शिल्प में समाहित रहता है, यह प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के साथ होता है। राणकपुर मंदिर की प्रवेश सीढ़ियों के ऊपर एवं देलवाड़ा (मा. आबू) मंदिर में कल्पवृक्ष की पत्ती अंकित बताई जाती है। देलवाड़ा (राजसमंद) के आदिनाथ प्राचीन मंदिर में काले पत्थर पर अंकित शिल्प एवं लेख है, जिसमें सम्वत् 1481 लिखा है। बाईं ओर एक वृक्ष की डाली है, पत्तों में एक सुन्दर पक्षी भी बना है। वृक्ष के आगे सर्प, चरण चिह्न और अंत में मोर बना है।

इसी प्रकार का अंकन मंदिरों के ऐसे शिल्प में देखने को मिलता है जिनमें सभी तीर्थंकरों को ध्यान मुद्रा में दिखाया जाता है, शीर्ष में वृक्ष, सर्प, चरण चिह्न एवं मयूर छोटे माप के बने होते हैं। द्रष्टव्य राणकपुर शिल्प में भी है। देलवाड़ा (राजसमंद) के एक प्राचीन मंदिर के जीर्णोद्धार के समय निकला पैनल भी ऐसा ही है जो महावीर मंदिर में रखा हुआ है, बीच से फट गया है। जैन मंदिरों के संबंध में अनेक पुस्तकों के लेखक श्री बोल्या के अनुसार अंकित वृक्ष, कल्पवृक्ष ही है।पटना संग्रहालय में कल्पवृक्ष का एक शिल्प है। बेसनगर से मिला एक छोटा शिल्प भोपाल संग्रहालय में है। इस पर भारत सरकार ने 1978 में 50 पैसे का डाक टिकट जारी किया था। कल्पद्रुम/ कल्पवृक्ष शोध का विषय है। एक वृत्त में वट वृक्ष की शाखायें इलाहाबाद विश्वविद्यालय का प्राचीन प्रतीक चिह्न है। इसमें लिखा है- Quot Rami Tot Abros अर्थात जितनी शाखा उतने पेड़।

सहस्र दल कमल

लाल रंग के इस कमल के पुष्प में 880 से 1000 तक पंखुड़ियां पाई जाती हैं, भारत एवं चीन में पाया जाता है। दक्षिण हिमालय क्षेत्र में 1400 मीटर ऊंचाई पर पाया जाता है।

एक रोचक पुष्प

पुष्प को देखने पर एक मानव आकृति देखने में आती है, जैसे अंतरिक्ष यात्री हो। प्रकृति की कृतियां बेजोड़ एवं अचम्भित करने वाली हैं।

रामायण एवं महाभारत के जैन संस्करण

जैन रामकथा में राम को पद्म लिखा गया है, इनकी गिनती ऐसे 63 महापुरुषों में है जो नवयुग में जीते हैं।

रामचरित्र को लेकर 1900 वर्ष पूर्व प्राकृत में लिखा मराठी में पौमाचरिया है जो मुनि बिमलसूरी ने लिखा था। 1300 वर्ष प्राचीन संस्कृत में रविसेन का पद्मपुराण एवं 1000 वर्ष प्राचीन स्वयंभूदेव का अपभ्रंश में लिखा पौमचरियु है। रोचक यह है कि लेखकों ने इनके पात्रों से मिलने की भी बात कही है, और उन्हें जैन-दर्शन पद्धति का ज्ञान भी प्रदान किया। कई पात्रों के पूर्वजन्मों के वृत्तांत भी बताये। उदाहरणार्थ-जटायु पिछले जन्म में दंडक के राजा थे, उन्होंने एक मुनि को अपने बाग से भगाना चाहा था, जिस कारण से उन्हें अगले जन्म में गिद्ध होने का शाप मिला था। इनके अनुसार राजा दशरथ एवं भरत ने मुनि बनना चाहा था। रावण के पुत्र एवं भरत मुनि बने थे। सीता को बनवास होने पर वह भी मुनि बन गई थीं। सीता के पुत्र, विभीषण, हनुमान एवं सुग्रीव भी मुनि बने थे। राम ने भी स्वर्ग गमन से पूर्व कैवल्य नामक सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त किया था। रावण को 20वें तीर्थंकर मुनि सुब्रत का भक्त लिखा गया है। इनमें यह भी वर्णित है कि रावण का वध लक्ष्मण द्वारा हुआ था।

महाभारत प्रसंग को लेकर जिनसेन द्वारा रचित 'हरिवंश' में कृष्ण और जरासंध की लड़ाई का विस्तृत वर्णन है। कौरव-पांडव युद्ध से पहले कृष्ण ने पांडवों की सहायता करने हेतु शर्त रखी थी कि वे जरासंध से युद्ध में उनकी सहायता करेंगे। कुरुक्षेत्र युद्ध में जरासंध ने कृष्ण की ओर चक्र फेंका, तब तीर्थंकर नेमीनाथ बीच में आ गये थे, चक्र इन दोनों के पास घूमकर कृष्ण की अंगुली पर जा बैठा, तब कृष्ण ने चक्र से जरासंध का वध किया।

टिप्पणी : रामायण एवं महाभारत के जैन संस्करण प्रचलित ग्रंथों एवं मान्यता से सर्वथा भिन्न हैं।– 1. जैन मुनियों को इन संस्करणों को लिखने की क्या आवश्यकता हुई? 2. प्रामाणिक रामायण के रचयिता ऋषि बाल्मीकि थे, और जो इसके एक महत्वपूर्ण पात्र भी थे, सीता-पुत्रों का जन्म उन्हीं के आश्रम में हुआ था। 3. तुलसीदास ने रामचरित मानस अपनी भक्ति की दृष्टि के आधार पर लिखा था। 4. राम, भरत, हनुमान, सीता एवं उनके पुत्रों का मुनि बनना बिल्कुल तर्कसंगत नहीं है। राम तो अवतार थे, उन्हें गुरु वशिष्ठ ही आत्मसाक्षात्कार कराने में सक्षम थे। प्रचलित मान्यता के अनुसार रावण शिवभक्त था, न कि जैन मुनि का। 5. इसी प्रकार किसी अन्य रामायण में यह नहीं लिखा है कि रावण-वध लक्ष्मण द्वारा हुआ था। महाभारत में जरासंध को भीम ने मारा था न कि कृष्ण ने।

मिट्टी के बर्तनों की विशेष उपयोगिता

जगन्नाथ पुरी मंदिर में भोग हेतु बनने वाला चावल एवं दाल मिट्टी की हांडियों में बनाया जाता है। पूछने पर श्री राजीव दीक्षित को पंडे ने बताया कि इसका कारण मिट्टी के बर्तनों का 'शुद्ध' होना है। इस जानकारी के आधार पर उन्होंने वहां की पकी दाल की दिल्ली की एक परीक्षण प्रयोगशाला द्वारा जांच करवाई। पता चला कि 36 घंटों के उपरांत भी दाल के सूक्ष्म पोषक तत्व नष्ट नहीं हुए थे। इसके उपरांत उन्होंने खोज कर पता लगाया कि कांसे के उपयोग करने से सूक्ष्म पोषक तत्त्व में 3 प्रतिशत कमी हो जाती है, पीतल में 5 प्रतिशत कमी होती थी। मेरी जानकारी है कि 70 वर्ष पूर्व अधिकतर परिवार मिट्टी की हांडी व्यवहार करते थे, कालिख से बचाने के लिए इसके नीचे के भाग पर राख का लेप करते थे, चलाने के लिए लकड़ी से बने चमचे होते थे। दूध भी मिट्टी की हांडी में कंडों की धीमी आंच में उबाला जाता था। दही भी मिट्टी के तसलों/हांडी में जमाया जाता था। सूखी भाजी लोहे की कड़ाही में बनाई जाती थी। कुम्हार यद्यपि पढ़े लिखे नहीं होते थे, फिर भी उन्हें यह जानकारी थी कि पोषक तत्व के आधार पर हांडी के लिये कौन सी मिट्टी उपयुक्त होगी, कुल्हड़ बनाने के लिए अन्य प्रकार की मिट्टी का उपयोग होता था, क्योंकि कुल्हड़ के उपयोग का समय अत्यंत सीमित था (दूध/गर्म पेय पीने हेतु)। राजस्थान में अनेक परिवार रोटी बनाने के लिए मिट्टी के तवे का उपयोग करते हैं, क्योंकि रोटी जलती नहीं, स्वादिष्ट पकती है। राजीव शुक्ला होमयोपैथी पद्धति द्वारा चिकित्सा भी करते हैं। उन्होंने मधुमेह के रोगियों को दवा न देकर मिट्टी के बर्तनों में पके दाल/सब्जी इत्यादि खाने को कहा। इसके बहुत अच्छे परिणाम देखने को मिले, जिनकी शुगर 480 काउंट थी, तीन माह बाद यह घटकर 180 हो गई थी।

•

ई-234, सेक्टर-14, हिरणमगरी, उदयपुर
(राज.)- 313002 मो. 8003188087

प्रतिस्वर

वैचारिकी का जुलाई अगस्त 2022 अंक मिला। भारत पर आर्यों के आक्रमण विषयक दो आलेख महत्वपूर्ण हैं। आर्यों का आक्रमण कल्पना है। हमें इतिहास के पुनर्लेखन की आवकश्कता है। क्योंकि यह पूर्वाग्रहित लोगों द्वारा लिखा गया। आर्यों के संबंध में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की शोध पत्रिका के 15 दिसम्बर 1999 से 14 जनवरी 2000 अंक में 'आर्यों का विनिर्माण' आलेख में यह बात स्पष्ट की गई है कि इस धरती ने अपने और बाहर से आए दोनों लोगों को आर्य बनाया है। आर्य बाहर से नहीं आए। यह आलेख देश के अखबारों में भी प्रकाशित हुआ। विनायक फीचर्स, भोपाल ने इस आलेख को अपने स्तर पर पचासों अखबारों में प्रसारित किया था। अध्ययन का दूसरा अध्याय था। इसे भी हिंदी प्रचारिणी सभा ने अपनी शोध प्रत्रिका के 15 जनवरी 2000 से 14 फरवरी 2000 अंक में प्रकाशित किया। यह आलेख भी देश के अखबारों में प्रकाशित हुआ। लेकिन कुछ तथाकथित इतिहासकार अपनी आंखों को बंद कर बैठे हैं। इन्होंने इस धंधे में खूब कमाया है। गलती इन्होंने की और परिणाम भारत भुगत रहा है। इसी अंक में डॉ. ओमप्रकाश ने अपने आलेख में उत्तर आधुनिक काल के संबंध में सुनी-सुनाई बातें लिखी हैं, आंखों से परखी नहीं। प्रतीत होता है, हमने गुनना करीब-करीब बंद कर दिया है। आधुनिक काल अपनी प्रवृतियों में उत्तरदायी रचना की बात करता था। असल में उत्तर आधुनिक काल किसी के भी प्रति किसी भी भांति उत्तरदाई न होने की प्रवृत्ति है। यह वैश्विक स्तर पर है। ये प्रवृत्तियां आधुनिककाल में नहीं थी। विश्व से, आदमी से विमुखता, उत्तर दायित्व से परे, पता नहीं कहां का चिंतन उत्तर आधुनिक काल ने अपने भीतर डाल लिया है। लेकिन आदमी को नहीं डाला, समाज को भी नहीं। संबंधों को भी नहीं। एक तरह का रोग और इसके प्रति जूनून उत्तर आधुनिक काल में है। विद्वत्ता नहीं है।

मैं अपनी यादों के दरम्यान से वैचारिकी के संबंध में कुछ कहना चाहता हूं। बीता युग विद्वानों का युग था। शोध व सर्जन की विद्वत्त ललक उस युग में देखने को मिलती है। यद्यपि प्रकाशन कठिन कार्य था, फिर भी बड़े-बड़े ग्रंथ इसी युग में प्रकाशित हुए। वैचारिकी, विश्वंभरा, वरदा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका आदि पत्रिकाएं इसी प्रकृति के काल की शोध पत्रिकाएं हैं। भारतीय विद्या मन्दिर बड़ा संस्थान है। वैचारिकी इसी संस्थान की पत्रिका है। इस संस्थान में बड़े-बड़े विद्वान इस पत्रिका के संपादन में संलग्न रहे और विद्वान लेखक इससे हुड़े हुए हैं। एक पाठक-लेखक के रूप में इससे प्रारंभ से ही जुड़ा रहा हूं, जब यह बीकानेर से प्रकाशित होती थी, अब संपादन-प्रकाशन कोलकाता से हो रहा है। वैचारिकी सही मायने में शोध-पत्रिका है। इसमें इसी प्रकृति के लेख प्रकाशित होते हैं। प्राचीन वांग्मय, इतिहास, ज्योतिष, प्राचीन विज्ञान, साहित्य, स्थापत्य, पुरातत्व के गहन सूक्ष्म अनुशीलन वाले आलेख इस पत्रिका के विषय हैं। पढ़ना मेरा जीवन है, पढ़ना और लिखना जीवन मार्ग। मैं

वैचारिकी पढ़कर अपनी बात भी कहता लिखता हूं। कई शोध बातें लिखीं जो प्रकाशित भी हुई। जैसे विश्व की तमाम समृद्ध भाषाएं लोकभाषाओं से बनी हैं। ये देवलोक से नहीं आई, सब भाषाओं का निर्माण और विकास धरती पर ही हुआ है। वैचारिकी में ऐसे तथ्यों के लिए उसके कलेवर में बड़ी जगह है। इसके 'प्रति-स्वर', 'पाठक मंच' स्तम्भ व्यापक दृष्टि के परिचायक हैं बड़े हैं। कभी तो प्रतिस्वर, पाठक मंच ही पत्रिका के प्रमुख अंग बन प्रस्तुत हुए हैं। ये इतने गंभीर कि इन्हें प्रमुखता से प्रकाशित किया गया। वैचारिकी को पढ़ना एक नये ज्ञान-संसार में भ्रमण करना है। मैं अपने अध्ययन-ज्ञान से कह सकता हूं कि वैचारिकी को पढ़-समझकर, भारतीय ज्ञान-विज्ञान पर गर्व होता है और इसको पढ़ना अपने अध्ययन को विस्तृत करना है।

बी. एल. माली 'अशांत'
राजस्थानी भवन, 3/343, मालवीय नगर,
जयपुर, राज., पिन-302017
Email : blmaliashant94@gmail.com

वैचारिकी के अंक मार्च-अप्रैल 2022 में श्री प्रमोद भार्गव का लेख 'वैज्ञानिकों ने स्वीकारा अजर-अमर आत्मा का अस्तित्व' पढ़ा। बहुत अच्छे विचार हैं। किंतु पृ. सं.8 पर आत्मा के बारे में लिखा है कि 'आत्मा या जीवात्मा का न कोई रंग है न रूप है। आत्मा के संदर्भ में आश्चर्य यह भी है कि आत्मा जिस भी जीव में उपलब्ध है, उसे भी न यह दिखती है और न वह अपने अंग के रूप में अनुभव करता है। किसी अन्य को भी यह नहीं दिखती है।' परंतु श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा का स्वरूप परम प्रकाश स्वरूप है। वह परम प्रकाश सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के प्रकाश से भी परे है। न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।। (भगवद्गीता-15/6)। वह परम प्रकाश-परमात्मा ज्योतियों की भी ज्योति है, आधार है। उनको ज्ञान के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते। ज्ञानं ज्ञेयम् ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्यं विष्ठितम्।। (भगवद्गीता-13/17)। तुलसीदासजी के अनुसार -परम प्रकाश रूप दिन राती। नहिं चाहिये कछु दीया घृत वाती।। संत प्रवर कबीरजी और अन्य संतों ने भी इसे परम-प्रकाश रूप कहा है। श्री गुरु महाराज की कृपा से स्वयं मैंने इसका अनुभव किया है।

डॉ. रामकिशन पोहिया,
(पूर्व वरिष्ठ शोध अधिकारी)
152, दीनदयाल नगर, आर. बी. एम.
अस्पताल के पीछे,
भरतपुर-321001 (राजस्थान)
मो. 9694102047

वैचारिकी में 'अध्यक्षीय' सभी समय विचारणीय और बोधप्रद होता है। डॉ. बाबूलाल शर्माजी का संपादकीय जानकारी देता हुआ महत्वपूर्ण और करणीय उचित मार्ग दिशा में बढ़ने का संकेत करता है। 'वैचारिकी' नाम को सार्थक करते आलेख इस पत्रिका में होते हैं जो सेवानिवृत्ति के उपरांत मुझे पढ़ने के लिए स्फुरण और ऊर्जा प्रदान करते हैं। वैचारिकी का मई-जून 22 का अंक एवं जुलाई-अगस्त 22 का अंक दोनों अंकों की विशिष्ट जानकारी देते लेख पढ़कर मन प्रसन्न हो गया। भारत पर आर्य आक्रमणः एक विशर्म, देवभूमि हिमालय प्रदेश की सांस्कृतिक परम्परा, संस्कृत कथा : साहित्य लोककथा एक दृष्टि और राजुला मालूशाही लेखों के साथ-साथ सभी लेख महत्वपूर्ण हैं। वैचारिकी अपने दस्तावेजी लेखों की पहचान बन गई है।

डॉ. विद्या केशव चिटको
(निवर्तमान निदेशक हिन्दी अनुसंधान केंद्र)
8, 'यमाई', अक्षर कॉलोनी समर्थ नगर,
नासिक-422005 (महाराष्ट्र),
मो. - 9527313387

स्वत्वाधिकारी भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता के लिए सचिव शंकरलाल सोमानी द्वारा कल्याणी प्रिंटर्स, अलखसागर रोड, बीकानेर के लिए कंप्यूटर-एन-मीडिया, 25ए, सी. आ. एवेन्यू, कोलकाता-72 में मुद्रित एवं भारतीय विद्या मंदिर से प्रकाशित। संपादक- डॉ. बाबूलाल शर्मा।

सहस्त्रदल कमल हिमालय की 1400 मी. की ऊंचाई पर

झालवाड़ का सूर्य मंदिर

From	TO
BHARATIYA VIDYA MANDIR	
12/1, Nellie Sengupta Sarani	
Kolkata - 700087 *(W.B.)*	

G.D.M.
PUBLIC SCHOOL
Near, Govt. DIET Office, Pugal Road, Bikaner

Admission Open for Nursery to 10th

Session - 2023-24

Mob.: 8769204922, 9413074922

Email: gdmpublicschoolbikanr4922@gmail.com